तुमि चिर सारथि

तुमि चिर सारथि

(यात्री नागार्जुन-आख्यान)

तारानंद वियोगी

मैथिली से अनुवाद :

केदार कानन

अविनाश

अंतिका प्रकाशन

ISBN 978-93-85013-41-6

तुमि चिर सारथि

© तारानंद वियोगी

पहला संस्करण (सजिल्द) : 2016

मूल्य : 265.00 रुपए

प्रकाशक

अंतिका प्रकाशन

सी-56, यूजीएफ-IV, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II

ग़ाज़ियाबाद-201005 (उ.प्र.)

फ़ोन : 0120-2648212, 0-9871856053

ई-मेल : antika56@gmail.com

वेबसाइट : www.antikaprakashan.com

आवरण सज्जा : अशोक भौमिक

मुद्रक : आर.के. आफसेट प्रोसेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

TUMI CHIR SARATHI (Monograph) by Taranand Viyogi

Published by Antika Prakashan, C-56UGF-IV, Shalimar Garden Extn-II

Ghaziabad-201005 (UP) India

Price : ` 265.00

उपकथा

न्न: । हरेक रचना की तरह उसकी भूमिका भी अर्थवान हो, ऐसा तो कतई नहीं होता। रचनाएँ ऐसी रोचक, उत्सुकता भरी और महत्त्वपूर्ण होती हैं कि भूमिका वहाँ किसी नई छापी साड़ी पर गिर गए तेल जैसी लगती है...। इस किताब के साथ भी वैसा ही है। लेकिन तारानंद का आग्रह है, इसलिए आग्रह रक्षार्थ यह उपकथा। क्योंकि इस संस्मरण की शुरुआत एक चिट्ठी से हुई थी जो मैंने तारानंद को लिखी थी। हम भारती मंडन (मैथिली पत्रिका) का बाबा नागार्जुन पर केंद्रित अंक आयोजित कर रहे थे। मैंने तारानंद से अनुरोध किया था कि बाबा पर एक संस्मरण मुझे शीघ्र भेजें। कई लेखकों को इस आशय के पत्र लिखे थे और कई आलेख मुझे मिलते गए।

लेकिन तारानंद का आलेख नहीं आ रहा था। वे आलसी नहीं हैं—यह मुझे पता था। लेकिन कई-कई योजनाओं और काम का दबाव उन पर रहता है, मुझे यह मालूम था। प्रतीक्षा भारी पड़ी। दूसरी चिट्ठी दी, फिर तीसरी। तीसरी चिट्ठी का जो उत्तर उन्होंने दिया, उसमें मुझे सूचना दी गई कि वे बाबा पर लिख रहे हैं और जल्द ही भेज देंगे।

मैं आकुल था। उत्सुकता बढ़ती जाती थी कि क्या लिख रहे हैं। अंक की सामग्री लगभग तैयार हो चुकी पर तारानंद की रचना नहीं मिली। खीझ और निराशा हुई। यात्री नागार्जुन प्रकरण की 'अंतिम' चिट्ठी मैंने उन्हें भेज दी और सोचा कि उन्हें अब तंग नहीं करूँगा। करें निश्चित होकर डिप्टी कलक्टरी।

लेकिन नहीं। वे सचमुच लिख रहे थे। जवाब आया कि साठ-सत्तर पृष्ठों की सामग्री तैयार हो गई है।

मैं तो गुम्म! साठ-सत्तर पृष्ठ!! तब पत्रिका में दूसरे लेखकों की रचनाएँ... ?

रमेश से बात की। कारण, उन्हीं के साथ पांडुलिपि की दीर्घ काया मेरे पास पहुँची थी एक शाम। जब पांडुलिपि मिली तो उत्सुकता से मैंने उसके बंधन खोले।

मेरी जिज्ञासा चरम पर थी कि आख़िर क्या-क्या समाया है इस सूमो संस्मरण में। पढ़ना शुरू किया तो डूबना शुरू हुआ और डूबता ही चला गया। न समय की

कोई सीमा थी, न किसी और चीज़ का बंधन। जैसे इस संसार में अभी मेरे लिए कुछ भी घटित नहीं हो रहा था।

मात्र कई-कई घटनाओं का संसार था, भूत किंतु जीवंत संसार, जो दृश्य रूप में सामने आ रहा था...। यह तारानंद का लेखकीय संसार था, उनके कुशल शिल्प का संसार, उनके अनुभव और वैभव का संसार और बाबा के साथ बिताया विरल-विलक्षण संसार था...। मैं इस संसार में डूब रहा था, डूबता ही जा रहा था।

यह डूबना ऐसा था कि जब मैं उतराया तो मेरे हाथों में रचना-समुद्र के अतल तल से निकले मोती-माणिक थे, घोंघा-डोका थे। घोंघा-डोका समुद्र का विविधतापूर्ण संतुलन बनाए रखते हैं। कई लागों का जीवन-व्यापार इन्हीं पर चलता है। इसलिए मोती-माणिक जितने ही ये भी महत्त्वपूर्ण हैं।

चकित होता रहा इन विलक्षण उपादानों पर, जैसे सूर्य की पहली किरण इसी पर पड़ी हो—आँखें जैसे ठहर नहीं पा रही थीं, मैंने आँखें बंद कर लीं। आँखें बंद कर लीं और भीतर की आँखों से देखने लगा।

बाबा पर, उनके जीवित रहते, हिंदी में अनेक संस्मरण प्रकाशित हुए। उसमें से कुछ मैंने पढ़े हैं! बाबा के जाने के बाद हिंदी के लगभग सभी अख़बारों से लेकर पत्रिकाओं में उन पर कई संस्मरण प्रकाशित हुए। प्रायः अधिकांश को मैं पढ़ पाया। मैथिली में भी काफ़ी कुछ लिखा गया, उन्हें देखने का भी अवसर मुझे मिला।

लेकिन यहाँ मैं यह कहना चाहता हूँ कि तारानंद की 'तुमि चिर सारथि' मैथिली में, अपने ही ढंग की एक विरल किताब है। इतना दीर्घ संस्मरण, एक ही व्यक्ति पर केंद्रित, मैथिली में एक भी नहीं है। और, अब तो स्पष्ट हुआ कि हिंदी में भी नहीं है। बाबा पर केंद्रित इस संस्मरण के बहाने पहली बार, मैथिली पाठकों के सामने स्वयं का यानी तारानंद ने अपने व्यक्ति, परिवार, गाँव-समाज और अपने संपूर्ण परिवेश का, उसमें अपनी हैसियत का दरस-परस करवाया है। स्वयं को और बाबा को देखने की उनकी 'विशिष्ट दृष्टि' रेखांकित करने योग्य है। और यह संभव हुआ भी इसलिए कि तारानंद ख़ुद डूबे रहे बाबा जैसे न्यूक्लियस तक उद्घाटित-विस्फोटित व्यक्तित्व में।

बाबा के विषय में, अब यह प्रामाणिक तथ्य है कि उन्होंने ख़ुद की काफ़ी खिल्ली उड़ायी है। ख़ुद पर हँसना आसान और सहज नहीं है। वैसे भारतीय परंपरा में यह कोई नई भी बात नहीं है। तुलसी और कबीर भी ख़ुद पर हँस कर गए हैं। तारानंद भी इस संस्मरण में ख़ुद पर ख़ूब हँसे हैं, हँसने के प्रयास किये हैं। उनकी यह हँसी, उनका यह प्रयास, मुझे अत्यंत प्रिय,आह्लादकारी और आश्वस्तिदायक लगा है।

'तुमि चिर सारथि' में बाबा की अनेक रूप-छवियाँ प्रकट हुई हैं। यह कहा जा सकता है कि बाबा अपनी संपूर्णता में यहाँ उपस्थित हैं। इसमें कहीं उनकी बालसुलभ चंचलता-चपलता है, तो कहीं उनका उग्र दुर्वासा रूप, कहीं वे आपादमस्तक काव्यानंद में डूबे हैं तो कहीं संस्कृत के महान आचार्य और दार्शनिक के रूप में, कहीं मैथिल संस्कृति के अपूर्व व्याख्याकार तो कहीं जीवन की विसंगतियों पर अनसम्हार प्रहार करते हुए, कहीं अठारह वर्ष के युवा-मन को आलिंगनबद्ध करने की मुद्रा में, कहीं अत्यंत उदार अभिभावक के रूप में...। विलक्षण तो यह कि उनके सारे रूप प्रेम करने योग्य हैं, श्रद्धा योग्य हैं और अनुकरण योग्य हैं...। और इन विभिन्न रूप-छवियों की कुशल अभिव्यक्ति में, दृश्य की सजीवता और जीवंतता में योग्यता किसकी... निश्चित रूप से इसका श्रेय तारानंद वियोगी के प्रगाढ़ और परिपक्व लेखन को है।

इस संस्मरण-कथा में मैथिली और हिंदी के कई लेखक दृश्य पटल पर आते हैं और संस्मरण की काया को पुष्ट करते हैं। इसका अधिकांश भाग तारानंद के पटना में बिताये स्वर्णकाल की पृष्ठभूमि में है।

अभिव्यक्ति की आत्मीयता और रागात्मकता से सराबोर यह संस्मरण दीर्घकाल तक पाठकों के मन को बांधे रखेगा, ऐसा मेरा सहज विश्वास है।

यह किताब बाबा की पहली बरसी पर छपी थी। छपते ही इसने विचारोत्तेजना की बड़ी लहर पैदा की। दूर-दराज तक के लोगों ने खोज-खाज कर इस किताब को पढ़ा। मैथिली की, अब तक की सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली किताबों में से यह एक बनी। इस पर कई लेख, समीक्षा, टिप्पणी आदि लिखे गए। किंतु, जैसा कि तारानंद की रचनाओं के साथ हमेशा से होता आया है, ये विचारक इस बार भी दो कोटियों में बँटे नज़र आए। एक ओर जहाँ इसे मैथिल लोक-मानस के, 'मनुष्य के प्रति आस्थाशील स्वभाव' की पुनर्रचना बताया गया और इसे मिथिला के 'हर युवा के लिए पढ़ी जाने योग्य एक अनिवार्य पुस्तक' कहा गया तो दूसरी ओर, कहने वाले यह कहते भी नज़र आए कि 'तुमि चिर सारथि' का लेखक अंततः 'यात्री-नागार्जुन के रथ पर सवार एक 'दलित पंडित' है और यह भी कि 'निम्नवर्ग में पैदा होने की हीनताओं से मुक्त नहीं' हो सका है। किंतु, प्रख्यात कवि जीवकांत ने लिखा कि इस किताब ने एक ही साथ तीनों—बाबा, तारानंद और मैथिली—को विराटता और प्रगाढ़ता प्रदान की है। मैथिली की भाषिक सामर्थ्य यहाँ पूरी प्रखरता लिये प्रकट है।

मैथिली की केंद्रीय-संस्था चेतना समिति, पटना ने इस किताब पर 'महेश पुरस्कार' देने की घोषणा की। तारानंद ने यह कहते हुए पुरस्कार को अस्वीकार

किया कि चेतना समिति अपने संस्थापक यात्री–नागार्जुन की चिन्ताओं से बहुत–बहुत दूर चली गई है और आज यह पुरातनपंथी पतनशील मूल्यों का मुख्य संरक्षक बन गई है।

फिर, 2006 में इसे 'पहल' ने पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया। प्रकाशित होते ही, हिंदी–पाठकों ने जिस ललक और आत्मीयता से इसे स्वीकार किया, वह वर्णनातीत है। विशिष्ट समीक्षकों की दर्जन से भी अधिक समीक्षाएँ विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में आईं। इतने प्रशंसा–पत्र आए कि अलग से उनकी एक किताब बन जाए।

बाबा से संबंधित कुछ अन्य आख्यान, जिन्हें तारानंद ने बाद के दिनों में लिखे, भी पहली बार इस संस्करण में शामिल किए जा रहे हैं, जो उतने ही आत्मीय, उतने ही विशेष बन पड़े हैं। ये आख्यान भी उसी आपकता के साथ पाठकों को पसंद आएँगे, हमें पूरी उम्मीद है।

तो अब लीजिए, बाबा और तारानंद के इस जगत पर से मैं अवन्तिका को उठाता हूँ और आप लोगों को लिये चलता हूँ उस विरल–विलक्षण रचना–संसार में, जिसकी उत्सुकता निश्चित रूप से आपको भी है।

—केदार कानन

किसुन कुटीर, सुपौल।

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः
पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः
ऋगवेद *10/14/15*

(जिन्होंने आरंभ में जीवन के मार्गों के निर्माण किये,
उन पूर्वज ऋषियों को मेरा प्रणाम)

पतन–अभ्युदय बन्धुर पन्था
युग–युग धावित यात्री
तुमि चिर सारथि, तव रथ–चक्रे
मुखरित पथ दिन–रात्री
—रवीन्द्र

चौदह साल हो गए, बाबा ने एक कहानी सुनाई थी—

एक बार की बात कहता हूँ तारा बाबू। मैं एक भद्र पुरुष के यहाँ अतिथि था। वहाँ मैं देखता क्या कि जिस कमरे में मैं ठहरा था उसके किवाड़ के पास खड़ा होकर एक बच्चा मुझे एकटक निहार रहा है। मुझे लगा कि इस बच्चे से दोस्ती करनी चाहिए। मेरे प्रति उसका बड़ा आकर्षण था। उसके प्रति भी मुझे आकर्षण हुआ। ऐसे में ही तो दोस्ती होती है न! तो मैंने एक दिन उस बच्चे को पास बुलाया। मगर क्यों वह मेरे पास आएगा? वह तो भाग गया। फिर मैं अपने काम में लगा तो देखता हूँ कि महाशय जी किवाड़ के पास हाजिर हैं। फिर वही टकटकी। फिर बुलाया तो फिर भाग गए। मैंने विचार किया कि सीधी अंगुली से यह घी निकलने वाला है नहीं। बस, मैंने क्या किया कि नींद का बहाना बनाकर लेट गया। थोड़ी ही देर में खर्राटे भर रहा हूँ, समझिए। और कनखियों से देख भी रहा हूँ कि महाशय जी किवाड़ के पास खड़े हैं। जब उन्हें पूरा-पूरा यक़ीन हो गया कि मैं सो चुका हूँ, धीरे-धीरे वह मेरी ओर बढ़े। मैं तो दम साधे उनके स्वागत के लिए तत्पर पड़ा हूँ। सो हल्के पाँव से महाशय जी मेरे पास आए और मेरी दाढ़ी को छूआ। मैंने देह को और ढीला छोड़ दिया। वह आश्वस्त हुए कि वाकई मैं सोया हूँ। तो, वह आए और बड़ी देर तक मेरी दाढ़ी पर हाथ फेरते रहे, सहलाते रहे। फिर ज़रा सी आहट हुई कि निकल भागे।

और इस कहानी का निहितार्थ स्पष्ट करते हुए बाबा ने कहा था, ‘बुजुर्गों को और चाहिए ही क्या ताराबाबू? नवागंतुक पीढ़ी आपसे कुछ मनोरंजन पाए, कुछ शिक्षण पाए, कुछ प्रेरणा पाए—यही आपके जीवन की सार्थकता है!’

इस कहानी से भी पहले, आज से कोई उन्नीस-बीस साल पहले जब बाबा से मेरी पहली मुलाक़ात हुई थी, मैं एक दलित-संतापित देहाती-भुच्च लड़का था, और उन्होंने बहुत आत्मीयता से मेरा स्वागत किया था, बहुत स्नेहपूर्वक मुझसे बातें करने के लिए समय निकाला था, मैं उनकी विराटता देखकर भावुक-विगलित हो गया था। उनसे मैंने कहा था, ‘बाबा, आपने मुझे इतना...! मेरा सौभाग्य है!’

और उस दिन, मेरी पीठ पर हाथ रखते हुए उन्होंने कहा था, 'यह सिर्फ़ आप का सौभाग्य कैसे हो सकता है? सौभाग्य तो हमेशा फिफ्टी-फिफ्टी होता है।'

और, पिछले नवम्बर 1998 में बाबा चले गए।

उनके देहांत के तुरंत बाद 6 नवबर 1998 को जीवकांत ने एक पत्र मुझे लिखा था, उसमें उन्होंने बहुत भावपूर्ण होकर बाबा का स्मरण किया था। बाबा के महत्त्व को बताते हुए जीवकांत ने लिखा था कि वह तो निरंजन थे और उन्होंने एक संपूर्ण और लक्ष्यपूर्ण जीवन जीया। शब्दों को अर्थ तो उन्होंने प्रदान किया ही, शब्दों ने उनसे महत्तम शक्ति भी प्राप्त की। और भी कितनी-कितनी बातें उन्होंने लिखी थीं मगर, मेरे अंतरतम को छू लेने वाली जो बात उन्होंने लिखी थी, वह यह थी : 'हमलोग उनके स्नेहभाजन थे, यह बोध कृतार्थ करता है' मैं तो फट पड़ा था इस वाक्य को पढ़ते-पढ़ते।

अपने इस वाक्य द्वारा जीवकांत ने अनजाने ही उस हिरण्मय पात्र के सत्य का ढक्कन खोल दिया था जो मेरी अनुभूति में तो परम गहनता पूर्वक व्याप्त था, मगर जिसे मैं कोई शब्द दे सकने में बिल्कुल ही अक्षम था। जीवकांत-जैसे विराट अनुभूति-संपन्न मित्र ही यह अभिव्यक्ति दे भी सकते थे। उन्होंने शब्द दिया था, 'कृतार्थ'। जो अपना उद्देश्य सिद्ध कर सका, उसे कहा जाएगा, 'कृतार्थ'। जो अपनी अपंगताओं की भरपाई कर सका, उसे कहा जाएगा, 'कृतार्थ'। मैं उनका स्नेह भाजन था, यह मेरी कृतार्थता है। सिर्फ़ स्नेहभाजन होना ही संपूर्ण कृतार्थता है।

साहित्य की तो बात ही छोड़िए, एक उद्देश्यमूलक जीवन का ककहरा भी मैंने बाबा से ही सीखा। उनके साथ बीता मेरा एक-एक पल, मेरे प्रति संबोधित उनका एक-एक शब्द अत्यंत सूक्ष्म रूप में कहीं मेरे संस्कार में शामिल हैं, जैसे शरीर के अंग-प्रत्यंग में रक्त-कण।

मैं बड़ी अच्छी तरह जानता हूँ कि जो भी कोई बाबा के स्नेहभाजन हुए ऐसे लोगों की संख्या इस देश में दर्जन या कि सैकड़े में नहीं गिनी जा सकती। ऐसे लोगों की संख्या निश्चित ही हज़ार अथवा लाख में होगी। ऐसे लाखों लोगों में से ही कोई एक मैं भी हूँ। मेरा देखा हुआ है कि कभी भी कहीं भी आते-जाते बाबा से एक बार भेंट हो जाना भी उनका स्नेहभाजन बन जाने के लिए पर्याप्त होता था। मेरा यह अनुभूत सत्य है कि जहाँ कहीं भी बाबा जाते, सूक्ष्म तरंग बनकर उनकी आत्मीयता समूचे परिवेश को आप्तजन-कोटि में ले आती थी। ऐसी स्थिति में, कौन होगा जो अपने को कृतार्थ न मानेगा?

मेरी कृतार्थता मगर ज़रा दूसरे प्रकार की है। थोड़े अलग क़िस्म की! और इसीलिए आगे जो कथा मैं लिखने जा रहा हूँ, लिखने की चेष्टा भर कर रहा हूँ, यह बाबा की कथा नहीं है, मेरी अपनी ही कथा है। मेरी अपनी मुक्ति-कथा।

यहीं आकर मेरा संकट शुरू होता है। मेरी मुक्ति-कथा में बाबा आकर शामिल हो जाते हैं और उन पर लिखना मेरे लिए बड़ा कठिन हो जाता है। जाने कितनी बार मैंने चेष्टा की है, मगर हर बार असफल हुआ हूँ। हर बार यह लगता रहा है कि उनके साथ जिये जीवन को केवल जीया जाना चाहिए अपने अंतरंग में, अपनी अंतर्लय में। हमेशा उसकी अनुगूँज भीतर की तरफ़ पसरने देना चाहिए, बाहर की तरफ़ उसको निकालने से परहेज करना चाहिए। बाबा के साथ बिताये क्षण अपने जीवन में अभिव्यंजित करने के लिए हैं, साहित्य लिखने के लिए नहीं, अभी तक यही लगता रहा है। यह भी एक परीक्षा ही है मेरी, जब मित्रों के अनुरोध-विरोध पर उन अनुगूँजीयमान तरंगों को मैं शब्दों में अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ।

बाबा के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विराटता क्या थी, समझेंगे आप? आप अगर उनके निकट कभी जाते तो वह बड़ी जादूगरी से आपको घोर-धन्यता बोध से भर देते। आप अपने को धन्य-धन्य अनुभव करते। क्यों? इस वजह से नहीं कि नागार्जुन के साथ आप बैठे। सिर्फ़-सिर्फ़ इस वजह से कि धन्य तो आप हैं ही। सारी धन्यता आपके ही भीतर है। विराटता आपके ही भीतर है। अनन्त गुणों के आप स्वामी हैं। अनन्त हुनर आप में व्याप्त है। अनन्त संभावनाओं से लैश आप किसी भी तरह समुद्र से कम नहीं हैं। धन्य-धन्य आप हैं, मगर यह बोध आपको नहीं है। वह बहु अनुभवी मित्र की तरह आपको आपकी ही धन्यता से आपको परिचित कराते। तब वह आपको कुछ रास्ते बताते, कुछ आइडिया देते, थोड़ी योजनाएँ बनाते, जिनमें आपकी और उनकी बराबर-बराबर की साझेदारी होती। कौन होगा जो धन्यता से नहीं भर जाएगा? हाँ, अगर आप अपने को परम ज्ञानी मानते हों, किसी मठ के महंत हों, किसी दल के सिपाही हों, किसी आग्रह के झंडाबरदार हों तो आपके लिए कोई क्या कर सकता है?

वह दिन याद आता है! परम अनुभवहीन, परम संतापित था मैं। उस लड़के की आप कल्पना कीजिए जो ब्राह्मणों के गाँव में दीन-हीन-दलित उजड़े-उपेक्षित परिवार में जन्मा है, ख़ानदान में किसी ने पढ़ा-लिखा नहीं। जिसके हाथों के लिए समाज के पास एकमात्र पारंपरिक योजना है—हल जोतना। मेरे गाँव का समाज बहुत गतिहत समाज था। वहाँ के लोग अपने उज्ज्वल इतिहास के नशे में चूर थे। ढंग से मेरे पढ़ने-लिखने तक को लोग 'बाभनक गाँव में राड़ पंजियार' की शंकाशीलता

से देखते थे। क़दम-क़दम पर अपमान था, संघर्ष था। उन्हीं दिनों कविता लिखने की ओर मेरी प्रेरणा हुई थी, 'मिथिला मिहिर' में कविताएँ छपने लगी थीं। कविता-कहानी छपने से मेरा अपमान और मेरा संघर्ष थोड़ा बढ़ ही गया था। परिस्थिति ऐसी थी जिसे कुल मिलाकर 'आगे नाथ न पीछे साथ' कहा जा सकता है। ठीक यही दिन थे जब बाबा से मेरी पहली मुलाक़ात हुई थी, अस्सी अथवा इक्यासी इस्वी की बात है। विद्यापति-पर्व का समय था। पटना में मेरे ग्रामीण डॉ. फुलेश्वर मिश्र मैथिली के प्रोफ़ेसर थे। चेतना समिति की गतिविधियों में वह भी सक्रिय थे। मेरी कविताई से प्राय: उनको ख़ुशी होती होगी, सो उन्होंने चेतना समिति का एक कार्ड मुझे डाक से भेज दिया था। आमंत्रण कविता पढ़ने के लिए नहीं बल्कि कार्यक्रम देखने के लिए था। मैं मगर इससे बड़ा ही उत्साहित, बड़ा ही प्रसन्न हुआ था और जैसे-तैसे रुपए-पैसे की व्यवस्था करके पटना आ गया था।

पटना की यह मेरी पहली यात्रा थी। चिल्ड्रेन्स पार्क में विद्यापति-पर्व मनाया जा रहा था। बहुत से लेखकों को मैंने वहाँ देखा। वे सब मुझे बड़े विराट और विस्मयलोक के प्राणियों की तरह लगे। राजमोहन झा को मैंने वहीं पहली बार देखा था। बड़े प्यार से वह मुझसे मिले, मैं उनकी महानता के प्रति नतशिर हुआ था। वहीं मोहन भारद्वाज को भी देखा था। बहुत भव्य, और आन-बान-शान से परिनिष्ठित, उनको देखकर मुझे भय हुआ था। राजमोहन जी ने सुकांत जी से परिचय कराया था। कवि-रूप में उन्हें जानता था लेकिन मैं बहुत आश्चर्य और हर्ष से भर गया कि वे यात्री जी के सुपुत्र हैं। मेरे लिए यह बहुत ही बड़ी बात थी। साँझ का वक़्त था। बातचीत से पता लगा कि बाबा भी अभी पटना में ही हैं। मैं सुकांत जी से प्रार्थना करने लगा था (मुहावरे में नहीं, सच में) कि बाबा से भेंट करा दीजिए। वह प्रसन्नतापूर्वक मेरा आग्रह मान गए थे। वहाँ से सब लोग बंदर बगीचा (उषा किरण खान के घर) आए थे। वहाँ सारे लेखक रुक गए थे और मैं सुकांत जी के साथ बाबा से मिलने विदा हो गया था। वह क्षण अद्‌भुत था बंधु! कभी लगता कि दुनिया के महानतम व्यक्ति के दर्शन को जा रहा हूँ, तो कभी लगता कि सीमा पर लड़ाई में शामिल होने विदा हुआ हूँ। बाबा कॉफ़ी हाउस में थे। वह दृश्य वैसे का वैसा याद है। विशाल हॉल। चारों ओर बैठे हुए लोग। बात-बहस चारों ओर जारी। पश्चिम किनारे के प्राय: आख़िरी सेट पर बाबा बैठे थे। उनके साथ एक सज्जन कोई और थे। वह सज्जन कौन थे, अब याद नहीं आता।

सुकांत जी ने मुझे बाबा के पास पहुँचा दिया था। मेरा परिचय देते हुए वह कुल दो वाक्य बोले थे, 'ये तारानंद वियोगी हैं। महिषी घर है।' मैं भयंकर देहाती-

भुच्च लड़का था। मेरे लिए यह परम कृतकृत्यता की स्थिति थी। बाबा ने मुझे बैठने के लिए कहा था। उनसे सटी हुई कुर्सी पर मैं बैठ गया था। सुकांत जी वापस चले गए थे।

सबसे पहले बाबा ने मेरा हाल-चाल पूछा। कुछ इस तरह की शैली थी उनकी जैसे मैं उनका ख़ास आदमी होऊँ और बहुत दिन बाद उनसे मुलाक़ात की हो। यह शैली सिर्फ़ उनकी बातचीत की ही हो, ऐसा नहीं था। उन्होंने तुरंत बैरे को बुलाया था। हाथ का इशारा देकर उससे कहा था, 'इनका स्वागत-सत्कार कीजिए।' बैरे को निश्चय ही स्वागत-सत्कार का अर्थ पता होगा। वह डोसा ले आया था। मैं थोड़ा लज्जालु, थोड़ा हीनभावना-ग्रस्त लड़का! जीवन में पहली बार इस सत्कार से सामना हुआ था—इस अप्रत्याशित स्वागत से मैं अप्रतिभ-सा हो गया था। कुछ समझ में नहीं आया, तो मैंने बाबा से कह दिया, 'और आप? आप भी लीजिए न !' बाबा इस पर क्या बोलते! निश्चय ही वे मुस्कुरा दिए होंगे। जैसे बलचनमा की झेंप पर मुस्कुराए हों। उन्होंने कहा था 'मैं ले चुका हूँ, आप खाइए।'

सामने जो एक बंधु बैठे थे अब उनसे बाबा मेरा परिचय कराने लगे। जिसका सारांश था कि ये महिषी के हैं। महिषी बहुत विशाल गाँव! महिषी में मैं था तो ऐसा हुआ वैसा हुआ। राजकमल थे वहीं के। महिषी में उग्रतारा, महिषी में इत्ता-इत्ता बड़ा मखाना। और सबका सारांश यह कि ये महिषी के हैं इसलिए विशिष्ट हैं मेरे लिए, और इसीलिए आपके लिए भी।

अपने अनुभवहीन भुच्चपने के उस क्षणांश में मुझे ज्ञान हुआ था कि किसी व्यक्ति का परिचय मात्र उसका निज का ही परिचय नहीं होता। जिस धरती पर वह रहता है, जिस इतिहास से वह बावस्ता हुआ है, जिस वनस्पति, जिस मौसम, जिस जीवजंतु, पशु-पक्षी, माटी-पानी के बीच वह जीता है, उन सबको जोड़ने के बाद ही किसी व्यक्ति का पूर्ण परिचय बन सकता है।

बाबा ने मुझसे अपनी भौजी (महिषीवाली) का हाल-चाल पूछा था। उन्हें नहीं पता था कि उनका देहांत तो दो साल पहले ही हो गया है। बाबा ने अपने बाल सखा घूरन झा के बारे में पूछा था। तारा स्थान के बड़े वटवृक्ष का हाल-चाल। गाँव का मौसम, खेत-पथार, अकाल-बाढ़। तब वह कहने लगे कि आपके गाँव के पुस्तकालय को मैंने एक हज़ार की किताब देने का वादा किया था सो आप को दे दूँगा, आप पहुँचा दीजिएगा। बाबा यह सुनकर बहुत दुखी हुए कि पुस्तकालय अब नहीं रहा।

बाबा ने हठात् मुझसे पूछ दिया, 'अच्छा, आप के पिता का नाम क्या है?'

मैंने परम संकोचपूर्वक, मानो जबरन उन्हें जवाब दिया, 'जी,बद्री महतो।'

सुनकर बाबा कुछ देर तक चुप रहे। फिर पूछा, 'और आपके बाबा का नाम।' मैंने कहा, 'खोनाई महतो। वह मड़र कहाते थे। खोनाई मड़र।'

बाबा चुप हो गए। गुम! अतीत में चले गए जैसे। याद करने लगे। पुराने बीते दिनों के चेहरे और नाम उनके चारों ओर उमड़ने-घुमड़ने लगे हों जैसे। मगर नहीं। यह तो मेरा आज का विश्लेषण है। उस दिन जब बाबा इस तरह गुमसुम हो गए थे तो मैं बहुत डर गया था। उस कालखंड का यह मेरा दैनंदिन अनुभव था। गाँव-पड़ोस के बुद्धिधारी लोग आत्मीयता दिखाते, परिचय पूछते, पिता का नाम पूछते और उन्हें जब पता चलता कि मैं शूद्र हूँ, उनका समूचा व्यवहार ही बदल जाता। यही कारण था कि मैंने अपना नाम ऐसा रखा था जिससे जाति का पता नहीं चलता था। अपना नाम 'तारानंद वियोगी' मैंने अपने कैशोर्य के उस कालखंड में रखा था जब ठीक-ठीक यह भी पता नहीं था कि 'वियोगी' शब्द का अर्थ क्या होता है।

बहुत देर तक बाबा याद करते रहे थे। और तब जैसे थोड़ा मलिन थोड़ा उदास होते हुए उन्होंने मुझसे कहा था, 'लगता है उनसे मेरा परिचय नहीं था!'

ओह! झनझना गया था मेरा अंग-प्रत्यंग उस क्षण। अब भी याद करता हूँ तो रोमांच से भर उठता हूँ। उस महान हस्ती को इस बात का अफ़सोस और पश्चाताप था कि मेरे पिता और पितामह से उनका परिचय नहीं था। जबकि मेरे पितामह का क्या परिचय? वह किसी के बंधुआ मज़दूर रहे होंगे, किसी के चरवाहे। यह बात बाबा में मैंने बाद में भी देखी। 1985-86 के जमाने में जब मैं उनके अति निकट था, तब भी इस प्रकार का अफ़सोस उन्होंने जाने कितनी बार प्रकट किया था। इस कालखंड में जो एक कविता लिखी थी मुझपर (शीर्षक—कोचिंग इंस्टीच्यूट) वह कविता भी कुछ इसी प्रकार के अफ़सोस-भाव से शुरू हुई थी कि आप के पितामह से मेरा परिचय नहीं, पिता से मित्रता नहीं, मगर पूरा-पूरी आप अपने ही आदमी हैं, सुच्चा स्वजन। अस्तु।

बहुत ठीक-ठीक मुझे याद है कि बाबा ने मुझसे उस दिन एक बार भी नहीं पूछा था कि आप क्या सब लिखते हैं, जबकि यह बात उनको सुनाने के लिए मैं व्याकुल था। उन्होंने मुझसे पूछा था, 'क्या पढ़ते हैं आप?'

संकोच करते हुए उनसे मैंने कहा था, 'शास्त्री में पढ़ता हूँ!' जैसे पढ़ता नहीं होऊँ, अपराध करता होऊँ।

यह बात मैं यहाँ साफ़ कर दूँ कि शूद्र होकर मैं संस्कृत पढ़ता था, शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करता था, दुर्गापाठ करता था, इन सारी बातों को लेकर मेरे गाँव वाले मुझपर

रंज रहते और तंज कसते थे। मैं एक अपराध-बोध से भरा हुआ था। मगर उपाय क्या था! संस्कृत पढ़ने में ही मुझे सबसे ज़्यादा आनंद आता था। और अपने घर-परिवार में कोई सलाह देने का योग्यताधारी तक नहीं था कि मुझे क्या पढ़ना चाहिए। मैं तो सर्वतंत्र-स्वतंत्र था!

सो, बाबा जैसे मेरी हिचक को लक्ष्य कर गए हों! वह पीठ ठोककर मुझे शाबासी देने लगे। तब कहने लगे कि संस्कृत का विद्वान किस-किस तरह से हुआ जा सकता है। कौन सा पथ श्रेयस्कर, कौन त्याज्य। किस-किस कवि को ख़ास ध्यान देकर पढ़ना चाहिए। कालिदास को किस भाव-दशा में पढ़ने पर शाश्वत साहित्य के अंतर्लय में प्रवेश किया जा सकता है आदि-आदि।

प्रायः दो घंटे तक मुझमें ही उलझे बाबा ने अंततः मुझसे कहा था, 'अब आप जाइए। मैं एक बार आपके गाँव आऊँगा। चिट्ठी वग़ैरह लिखते रहिएगा। अपना पता दीजिए। पहले मैं ही आपको पत्र दूँगा।' आदि-आदि। मैंने अपना पता उनको दिया। उठकर खड़ा हुआ। पाँव छूकर प्रणाम किया। उस क्षण में मैं बहुत भावुक हो गया था। आज जो कुछ मुझे मिला था वह एक अद्‌भुत और विस्मयकारी अनुभव था, अविश्वसनीयता की हद तक विस्मयजनक। यह तो उनकी प्रवृत्ति थी, उनका स्वभाव ही था, यह बात तो बाद में पता चली।

पाँव छूकर खड़ा हुआ तो हाथ जुड़े के जुड़े रह गए मेरे। अपने बचपन का स्वभाव याद करता हूँ, निश्चय ही उस क्षण मैं रोने-रोने को हो आया होऊँगा। हाथ जोड़े परम कृतज्ञतापूर्वक, परम धन्यवाद-भाव से, परम समर्पण-भाव से उनसे मैंने कहा था, 'बाबा, आपने मुझे इतना...मेरा सौभाग्य है।'

ठीक-ठीक याद है। इसी 'सौभाग्य' शब्द का प्रयोग मैंने किया था।

मेरी भावुकता देखकर बाबा भी भावुक हो गए थे क्या? वह उठकर खड़े हो गए। मेरी पीठ पर हाथ रखा था और एक वाक्य कहा था—वही वह एक वाक्य है, जिसने मेरे जीवन को बदल दिया। मेरे चिंतन को, मेरे लक्ष्य को, मेरे प्राथमिकता-निर्धारण को, सब कुछ को बदल दिया। वह जो अभिशाप था मेरा—हीनता और अपराध-बोध—उस दिन के बाद अंत को उन्मुख हुआ। मेरी पीठ पर हाथ रखकर बाबा ने कुल एक वाक्य कहा था, 'सौभाग्य तो फिफ्टी-फिफ्टी होता है। आधा आपका तो आधा मेरा।' और, मेरी पीठ थपथपा दी थी।

अपनी उस पहली भेंट में बाबा से मैं इतना प्रभावित हुआ था कि एक तरह से वह

मेरे आदर्श–पुरुष बनकर मेरे आगे स्थापित हो गए थे। उनकी कविताएँ मैंने पहले भी पढ़ी थीं, मगर अब जो मैं पढ़ता तो उसका अर्थ बहुत विस्फोटक बनकर मुझमें उतरता। उन दिनों कविता मैं गाकर पढ़ा करता। लय से मुझे बहुत प्यार था। मेरा एकांत बहुधा काव्य–पंक्तियों के स्वर से मह–मह करता रहता। 'चित्रा' की अधिकांश कविताएँ मुझे याद हो गई थीं, इतनी बार उनको गाया था। 'चंदू मैंने सपना देखा' मेरी परम प्रिय कविता थी। पता नहीं क्यों इस कविता में एक विशिष्ट प्रकार की करुणा मुझे अंतर्निहित दीखती थी। जब–जब इस कविता को मैं पढ़ता आँखें मेरी छलछला पड़तीं। 'बाक़ी बच गया अण्डा' कविता तो मैंने दशहरे के मेले में नाटक के मंच पर भी प्रस्तुत किया था। कालिदास का 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' मेरे कोर्स में थे। एक मैंने नियम बनाया था कि कालिदास का काव्य–पारायण करने से पहले मैं 'कालिदास सच–सच बतलाना' कविता का पाठ किया करता। कुछ उसी अंदाज़ में जैसे लोग शुभ कार्य शुरू करने से पहले प्रार्थना करते हैं। बाबा की किताबें उस बार मैं पटना से ले आया था। 'प्रतिनिधि कविताएँ' तब तक नहीं छपी थीं। 'हज़ार–हज़ार बाँहों वाली' और कुछ–कुछ दूसरी किताबें भी लाया था। उसी बार राजकमल प्रकाशन, पटना के सेल्समैन लालाजी से मेरी दोस्ती हुई थी। बाद में 1982 में केदार के आमंत्रण पर 'नवतुरिया लेखक सम्मेलन' में भाग लेने के लिए पटना गया। 1983 में राजकमल चौधरी का कथा–संग्रह 'एकटा चम्पाकली एकटा विषधर' छपवाने के लिए पटना गया। तब केदार पटना यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी थे और पी.जी. हॉस्टल रानी घाट में रहते थे। मैं उनके साथ ही टिका था। तब मेरे एक मात्र साहित्यिक मित्र केदार ही थे। केदार भी बाबा के बड़े स्नेहभाजन। उनके साथ कई–कई बार राजकमल, पारिजात और अनुपम जा–जाकर बाबा की कितनी ही किताबें ख़रीदी थीं। पारिजात में जाकर एक बार केदार ने 'कलावार्ता' का वह अंक ख़रीदवा दिया था, जिसके अंतिम कवर पर बाबा का विशालकाय श्वेत–श्याम चित्र छपा था। उस फ़ोटो में शीशा लगाकर मैंने अपनी कोठली में टाँग लिया था। बाद में देखा कि हरिहर प्रसाद जी के ड्राइंग रूम में भी वही फ़ोटो लटका रहता था। वह मेरे जीवन के पुनर्निर्माण का दौर था। ढेर सारा कूड़ा–कचड़ा जाने–अनजाने मेरे व्यक्तित्व में जमा हो गया था। बहुत तरह की हीनता–ग्रंथियों से मैं ग्रस्त था। जीवन का लक्ष्य स्पष्ट नहीं था। कुंठा और आक्रोश आफन तोड़ता था। गाँव के अन्यायी वर्ग के प्रति मन घोर विद्वेष से जल रहा था। बार–बार निर्णय किया करता कि जैसे ही किसी लायक़ होऊँगा इस गाँव से अलग हो जाऊँगा।

इस स्थिति में बाबा मेरे लिए ज्योति–स्तंभ बनकर खड़े हुए। उन्होंने जो कहा

था—सौभाग्य तो फिफ्टी-फिफ्टी होता है—उसने मुझे एक विचित्र प्रकार के होश से, जागरण से भर दिया था। मैं अपने हिसाब से अपनी स्थिति का पुनर्मूल्यांकन करने लगा था। इस महावाक्य की रोशनी में देखें तो अपनी स्थिति बहुत बुरी नहीं दिखाई पड़ती थी।

उन दिनों स्वाध्याय मेरा भयंकर व्यसन बन गया था। भयंकर इस कारण कि 12-15 घंटा का मेरा समय पढ़ने में ही बीतता था। कितनी बार ऐसा होता कि रात में मेरी माँ जब एक नींद सोकर उठती और मुझे लालटेन के पास पढ़ते देखती तो तंग आकर कहती 'सारी रात पढ़ते ही रहोगे? अब समेटो किताब।' माँ की चिंता मिट्टी तेल की खपत को लेकर होती थी।

गाँव में मैं ट्यूशन करता था। उससे पैसे आते। मेरे पिता का निर्णय था कि मेरी कमाई वह परिवार में ख़र्च नहीं होने देंगे, तब यह भी कि मेरी किताब-कॉपी के ख़र्च से वह निश्चिन्त रहना चाहेंगे। ट्यूशन मेरा ख़ूब चलता था। राजकमल कान्वेंट खोल लिया था। उसमें मेरे मित्र आदि सहायक शिक्षक थे। ट्यूशन से जो पैसे आते उससे मैं किताबें ख़रीदता। पढ़ने-लिखने के लिए टेबुल, लालटेन, स्टोव उसी पैसे से मेरे घर में आया था।

ढेरों किताबें मेरे पास जमा होने लगीं। मेरे गाँव के भारी पढ़ाकू थे माँगन चौधरी, राजकमल चौधरी के बड़े चाचा। और, सदाशिव चौधरी, युवा लेखक दीपक चौधरी के पिता। और, सुमन कुमार झा। इनके पास भी किताबों का ख़ासा स्टॉक होता। माँगन बाबू के घर में तो विशाल पुस्तकालय था—सरस्वती पुस्तकालय। उसमें मधुसूदन चौधरी (राजकमल के पिता) और स्वयं राजकमल द्वारा संग्रहीत तमाम किताबें जमा थीं। इन तीनों लोगों से मेरी पक्की दोस्ती थी। मैं अपनी किताबें इन लोगों को पढ़ने देता और इन लोगों से किताबें लेकर स्वयं पढ़ता। मेरी गति सबसे तेज़ रहती। आतुरता, जिज्ञासुता और पिपासा से मैं भरा था।

उपन्यास, कथा, जीवनी और वैज्ञानिक लेखन मेरे प्रिय विषय थे। उसी कालखंड में मैं अंग्रेज़ी के महान क्रांतिकारी उपन्यास 'अंकल टॉम्स केबिन' का अनुवाद पढ़ गया था। इस किताब ने मुझे जीवन के नवीन क्षितिज से परिचय कराया था। प्रेमचंद के उपन्यास ख़ासतौर पर 'सेवासदन' और 'गोदान' ने मेरी नसें फड़काई थीं।

कुल बात यह कि अपनी स्वाध्याय-प्रवृत्ति के कारण दीन-दुनिया की दशा-दिशा से मेरा परिचय तो हो गया था, यद्यपि कि कच्चे देहाती मानस के लिए इस परिचय को बहुत पुख्ता नहीं कहा जा सकता। अन्याय, अत्याचार, ग़ैर-बराबरी, छल-

कपट, गुलामी—ये सारी चीज़ें अपना व्यापक परिदृश्य समेटे मेरे सामने थीं। इनसे विद्रोह, इनका प्रतिकार ही मानव-क्षमता के लिए सर्वोत्तम स्पृहणीय राह थी—सो मेरे सामने स्पष्ट था। इस दुनिया में न कोई व्यक्ति अकेला होता है न कोई विचार—यह बात कोई महापुरुष कह गए हैं। वाकई, साहित्य की दुनिया में घुसकर मैंने देखा कि मैं अकेला नहीं हूँ। अनेकानेक लोगों ने मेरी जैसी ही स्थिति में रहकर अपना लक्ष्य पूरा किया था। अपने स्वाध्याय से मेरे पास उदाहरणों और दृष्टांतों के ढेर लग गए।

मगर स्वाध्याय, उदाहरण और दृष्टांत अपने में पूर्ण नहीं होते। आपने बहुत पढ़ा है तो आपकी जीवन-धारा, विचार-पद्धति और प्राथमिकता बदल जाएगी, इसकी गारंटी कोई नहीं दे सकता। अध्ययन अलग बात है और प्रयोग अलग बात। ढेर पढ़े हुए लोगों का संकट भी बहुत भारी होता है। सबसे बड़ी समस्या तो होती है उनके लिए—चयन की। इतनी-इतनी कोटि और प्रकार की धारणाएँ आपने प्राप्त कीं, अब इन सब में से अपने लिए क्या चुनेंगे ? कौन श्रेयस्कर ? सीधा-सीधा आपके अपने लिए ? दूसरों के लिए चयन कर देना तो आसान है, मगर अपने लिए ? यही वह समय था जब बाबा मेरे जीवन के लिए प्रकाश-स्तंभ बनकर खड़े हुए थे। पहली भेंट में मेरे साथ किया गया उनका आत्मीय व्यवहार और उनके द्वारा कहा गया वह महावाक्य मेरे जीवन के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ। अपना विश्लेषण मैंने ख़ुद करने की चेष्टा की और अपना संबल निर्धारित किया—आत्मसम्मान और आत्मविश्वास।

आत्मसम्मान से मुझे उस अपमानजनक और ग्लानिपूर्ण जीवन-स्थिति में राह दिखने का उपाय मिला। आत्मविश्वास की खुराक लेकर मैं उस निविड़ अंधकार में रोशनी ढूंढने की चेष्टा करता रहा। राजकमल चौधरी अपने परवर्ती जीवन के गहन अंधकार में कौन-सी किरणमाला ढूंढते होंगे, यह उन दिनों भी मैं समझ सकता था। हाँ, यह बात ज़रूर है कि हम दोनों का अंधकार अलग-अलग था। अपने अंधकार के वह स्वयं रचयिता थे। और मुझपर समाज द्वारा, धर्म और संस्कृति द्वारा अत्याचारपूर्वक अंधकार लाद दिया गया था।

हमारे ग्रामीण शूद्र छात्र-गण अत्याचारी ब्राह्मण-समाज के प्रति घोर घृणा से भरे थे। उन लोगों के मन में व्याकुल विद्वेष था। मौक़ा-बेमौक़ा वे लोग आपस में इन सब बातों की चर्चा किया करते। बदला लेने की योजना आदि बनाते। लेकिन बदला लिया नहीं जा सकता था। कर्पूरी ठाकुर की सरकार आई, मगर मेरे गाँव पर कोई असर नहीं। आइरन गेट और 'टाइट' कर दिया गया। आरक्षण के विरोध में विशाल जुलूस निकाला गया था मेरे गाँव में। थाना को लूटा गया था। उसमें ज़बरदस्ती

शूद्र विद्यार्थियों को भी पकड़कर ले जाया गया था। सो, बदला नहीं लिया जा सकता था। बदले की आग में मात्र जलते-सुलगते रहा जा सकता था। मैं अनुभव करता कि अधिकतर शूद्र विद्यार्थियों का जीवन-लक्ष्य ब्राह्मणों से बदला चुकाने तक ही सीमित हो रहा था। मैंने साहित्य में डूबकर देखा था। मेरी बाबा से भेंट हो गई थी। तब की अपनी समझदारी के अनुसार बाबा को भी मैंने एक ब्राह्मण माना था। केदार मेरे मित्र थे, वह भी ब्राह्मण ही थे। अध्ययन-प्रवृत्तिवश मेरी कितने ही बुजुर्गों से मित्रता हो गई थी, वे भी ब्राह्मण ही थे। मैं विश्लेषण करना सीख गया था। मुझे लगने लगा था कि ब्राह्मण वर्ण के प्रति विद्वेष से भरना अंधेरे के साथ कुश्ती लड़ने-जैसा था। मेरे लिए व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होने लगा था, जाति नहीं। नौजवानी में ही दिल्ली प्रेस का सस्ता साहित्य आदि पढ़ गया था। कुछ-कुछ अंबेडकर को भी पढ़ चुका था। ब्राह्मणवाद की अवधारणा मेरे सामने स्पष्ट होने लगी थी, और कितनी ही बार लगा कि मेरे बिरादरी वाले भी कई लोग क्या किसी ब्राह्मण से कम ब्राह्मणवादी हैं? बाबा के साहित्य ने मुझमें पक्षधरता और प्रतिबद्धता की समझ पैदा की। राहुल जी की किताबों से मार्क्सवाद से परिचित हुआ था। मेरी परिस्थिति, परिदृश्य और पक्षधरता धीरे-धीरे मुझे अपने समवयस्कों से अलग कर रही थी।

उन्हीं दिनों हरिमोहन झा का साहित्य मैंने पढ़ा था। केदार के संग (प्राय: 1983 में) एक बार पटना जाकर हरिमोहन बाबू से मुलाक़ात भी कर आया था। उनके साहित्य ने मेरे सोच में व्यापक परिवर्तन लाया। अब ब्राह्मण-समाज का रंग-ढंग देखकर कितनी बार आक्रोश और घृणा के बदले मेरे मन में करुणा उपजती। अकारण नहीं है कि आज हरिमोहन बाबू पर विचार करते हुए कई बार उनके साहित्य को मैं करुणा-प्रधान कहता हूँ।

आत्मसम्मान की रक्षा के लिए लड़ना आवश्यक था। और मैं लड़ा भी। मगर सकारात्मक लक्ष्य के लिए ख़ुद को अखंड-मानस बनाकर रखना भी ज़रूरी था—यह बात मैंने बाबा से सीखी। मेरे आत्मविश्वास की दीपशिखा अद्यावधि अकंप रही। यह बाबा का दिया हुआ दीप था।

1985 में मैंने आचार्य पास किया। संस्कृत विश्वविद्यालय के इतिहास में मैं पहला कुवर्ण छात्र था जिसने प्रथम वर्ग में प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसका सर्वाधिक श्रेय सारंग कुमार और उनके पिता बलराम जी (प्रसिद्ध कथाकार) को था, जो सदा मेरी रक्षा में खड़े रहे कि मेरे साथ कोई अन्याय न हो। अन्याय होने की लाख-लाख

संभावनाएँ थीं। इधर मेरे आत्मसम्मान और आत्मविश्वास ने बहुत ऊँचा धरातल छू लिया था। याद आता है कि जो महामहोपाध्याय आचार्य मेरे प्रति मात्र शूद्र होने के कारण अवज्ञा-भाव रखते थे, मैंने भी उनको तरजीह देना छोड़ दिया था।

1985 में आचार्य पास करने के बाद क्या किया जाय—यह एक विकट प्रश्न था। पिता नौकरी करने को कहते, मगर नौकरी (मास्टरी) की उम्र नहीं हुई थी। खेती-बारी और हरवाही-चरवाही अब मैं कर नहीं सकता था। गाँव लौटकर राजकमल कान्वेंट फिर शुरू किया। मगर ठीक इन्हीं दिनों संस्कृत विश्वविद्यालय ने शास्त्री का स्कॉलरशिप स्वीकृत किया। एकमुश्त दो-तीन हज़ार रुपए मिल गए। ऐसे ही खेलते-कूदते पटना यूनिवर्सिटी में एम.ए. में एडमीशन के लिए अप्लाई कर दिया था, सो चयन-सूचना आ गई। ठीक इसी समय अगर स्कॉलरशिप मुझे नहीं मिला होता तो कोई प्रश्न ही नहीं था कि पटना यूनिवर्सिटी का मुँह मैं देख सकता।

1985 में चेतना समिति ने एक युवा कवि-गोष्ठी का आयोजन किया था। बहुत बढ़िया आइडिया था उन लोगों का। विद्यापति पर्व में प्रतिवर्ष कवि सम्मेलन होता। कवि-सम्मेलन तब एक रुचिकर और आकर्षक आयोजन हुआ करता था। उसमें मैथिली के प्रसिद्ध कवियों को बुलाया जाता। नवागंतुक कवियों-लेखकों को अवसर नहीं मिलता। चेतना समिति ने यह विचार किया कि पटना के युवा कवियों की एक कवि-गोष्ठी की जाय जिनमें से चुनिंदा कवियों को 'पर्व' के सम्मेलन में शामिल किया जाय। योजना यह एक तरह से इन्ट्रेन्स टेस्ट के रूप में बनी थी, मगर होते-होते यह परम विशिष्ट आयोजन बन गया। पटना में रहने वाले मैथिली के प्रायः समस्त साहित्यकार उसमें आए थे। हिंदी के भी कई कवि थे। आलोकधन्वा थे। ज्ञानेन्द्रपति को पहली बार मैंने वहीं देखा। इस गोष्ठी में बाबा भी आए थे। बाबा से यह मेरी दूसरी भेंट थी।

पहली भेंट में बाबा ने मुझसे कहा था कि वह मुझे पत्र लिखेंगे। इन चार-पाँच वर्षों के अंतराल में प्रायः उनके चार-पाँच पत्र मुझे मिले थे। कोई दिल्ली से लिखा हुआ, कोई कलकत्ता से। साधारण और संक्षिप्त पत्र थे वे सब। केवल सूचना। केवल स्मृति। मगर मेरे लिए उनका बहुत महत्त्व था। मेरे लिए वे भावनात्मक सुरक्षा और नीतिगत समर्थन जैसा थे।

इस अंतराल में साहित्य लिखने की थोड़ी अवगति मुझे हो गई थी। कुछ कहानी, कविता और निबंध लिख गया था। उन सबकी चर्चा भी जहाँ-तहाँ हुई थी। ग़ज़ल में मेरे प्रयोग को सराहा भी गया था। अपनी प्रायः सारी ग़ज़लें इस समय तक मैं

लिख चुका था। अनुभव भी थोड़ा बढ़ा था। कॉमनसेन्स और जेनरल नॉलेज भी। मगर कुल मिलाकर मैं सीधा (सुधांग) टाइप के देहाती युवक से भिन्न नहीं हो सका था। होना भी नहीं चाहता था। अपनी स्थिति और विकास से संतुष्ट था। प्रचुर आत्मसम्मान विकसित कर चुका था।

बाबा के समक्ष मैंने पहली-पहली बार उसी दिन अपनी कविता सुनाई थी। 'कोसी की बाढ़' पर लिखी गई कविताओं के सिरीज में से एक कविता थी। धड़कते हृदय से मैंने वह कविता पढ़ी थी। धड़कते हृदय से क्यों? सहज भाव से क्यों नहीं? आज सोचता हूँ तो लगता है कि यह सब भी मेरे बढ़ते आत्मविश्वास के फलस्वरूप ही था। हर हाल में मैं अपने लिए शाबाशी और प्रशंसा ही चाहता। यह चाहना अधिकतर मंच आदि पर मुझे सहज नहीं रहने देता। अपने एकांत में बाबा मुझे बेहद प्रिय, बेहद आत्मीय और अनौपचारिक थे। मगर इधर पाँच वर्षों के दरम्यान जो मेरा विकास हुआ था, उसने मेरे और बाबा के बीच औपचारिकता की एक दीवार खड़ी कर दी थी। यह बात भी मुझे उसी दिन प्रतीत हुई थी। अब अपनी उस कविता को पढ़ता हूँ तो लगता है—वह कविता क्या थी, एक भावुक आलाप थी! मगर धन्य हो बाबा! उन्होंने इतनी प्रशंसा कर दी थी उस कविता की कि मैं गोष्ठी का हीरो बन गया था। विद्यापति-पर्व की कवि-सूची में मेरा नाम शामिल कर लिया गया था।

गोष्ठी ख़त्म होने के बाद मैंने बाबा के पाँव छूए। बाबा का वही सुपरिचित आत्मीय प्रश्न—कहिए हाल-चाल? मैंने कहा कि पटना में ही रहता हूँ। एम.ए. में नाम लिखाया है। भागीरथी लेन में रहता हूँ।

पटना जाने के बाद कुछ महीनों तक मैं इधर-उधर भटकता रहा। कुछ दिन पी.जी. हॉस्टल में एक परिचित के पास। थोड़े दिन सुल्तानगंज थाना के पास एक लॉज में। उन दिनों पैसा मेरे लिए बहुत महँगा था। सस्ता डेरा चाहता था। लॉज आदि का जो रेट था उसमें मैं ठठ नहीं पाता। और आख़िरकार भागीरथी लेन में मिथिलेश वर्मा के लॉज में एक कचरा मकान मिला। दो सीट की कोठली थी ग्राउण्ड फ्लोर पर। कोठली क्या थी? सीढ़ी के नीचे घेर-घार कर बनायी गई जगह थी। नीचे फर्श कच्चा था। आगे होकर नाली बहती थी। दो सीट की कोठली थी, उसमें मैं अकेला डेढ़ साल रहा। मगर कमाल देखिए किसी दूसरे विद्यार्थी ने उसमें रहने की हिम्मत नहीं की। अंधेरा और गन्दगी से भरी वह काल-कोठरी थी, थी मगर सस्ती। एक डेढ़ माह पहले मैं उस डेरे में आया था।

मैंने कहा, 'भागीरथी लेन में रहता हूँ' तो बाबा बोले, 'मैं भी तो वहीं रहता हूँ इनके यहाँ।' और बाबा ने जिनसे मेरा परिचय कराया वह हरिहर प्रसाद जी थे।

ओह! वह भी अद्‌भुत आदमी थे। इतने स्नेहिल, इतने आत्मीय कि क्या कहा जाय? उसी दिन से उन्होंने मुझे अपना मित्र बना लिया।

बाबा ने कहा, 'और कुला बाबू भी तो वहीं रहते हैं।' कुला बाबू अर्थात् प्रसिद्ध कवि-आलोचक कुलानंद मिश्र। कुलानंद जी के प्रति मेरी बहुत श्रद्धा थी। मेरी नज़र में वह मैथिली के शलाका-पुरुष और महान विचारक थे। याद आता है, बाद में बाबा ने भी मेरी इस धारणा को अपनी स्वीकृति दी थी।

मैं गुम था और उत्साह से भर गया था। बाबा ने कहा था 'चलिएगा मेरे ही साथ।'

चलते वक़्त मैंने बाबा का झोला थाम लिया था। वह झोला क्या था, पूरा मीनाबाज़ार था। तीन-चार भाषाओं की नई-नई पत्रिकाएँ, दैनिक अख़बार, थोड़ी किताबें, एक पॉकेट रेडियो, मैग्नीफाइंग ग्लास, बाबा की घड़ी...

अब तो मैं इतिहास के इस पार हूँ तो उन दिनों की स्थिति और घटनावली को साफ़-साफ़ देख पा रहा हूँ। तब तो मैं स्वयं अपने इतिहास-निर्माण में शामिल था। मैंने बाबा का झोला थाम लिया था तो कहाँ पता था कि अपने जीवन का एक निर्णायक बिंदु मैं चुनने जा रहा हूँ। मैं खालिस मुहावरे में उनका झोला थाम रहा हूँ। इसको अपने समूचे पटना-प्रवास के दौरान तो थामे रखना ही है और बाद में किसी रंग की तरह अंतर्मन में धारण कर जीवन के प्रति प्रतिबद्धता जगाये रखनी है, और इन्हीं सब बातों को स्मरण करते हुए 'यावज्जीवन जीवनोष्ण' बने रहना है।

भागीरथी लेन मोहल्ला के बीचो बीच हरिहर प्रसाद जी का डेरा था। किराये का फ्लैट, जिसमें वे सपरिवार रहते थे। ड्राइंग रूम टाइप की एक कोठली बाहर की तरफ़ थी, भीतर और भी कोठलियाँ थीं और आँगन था। ड्राइंग रूम में बाबा की एक बड़ी तस्वीर (वही कलावार्ता वाली) लटकी रहती थी। बाद में जब नामवर जी के संपादन में 'प्रतिनिधि कविताएँ' छपी तो वही तस्वीर मुखपृष्ठ पर छपी थी। बाबा के देहांत के बाद 'पल-प्रतिपल' ने जो अंक निकाला है उसमें भी वही तस्वीर छपी है। वह बाबा की सबसे सुन्दर तस्वीर है।

ड्राइंग रूम थोड़ा बड़ा था। एक तरफ़ से चौकी लगी रहती थी और बगल में कुछ कुर्सियाँ। बाबा इसी चौकी पर आराम करते। उस परिवार में बाबा का बहुत सम्मान था। भौजी (ठीक भौजी-सी स्नेहमयी, वात्सल्यमयी हरिहर जी की पत्नी)

और उनकी बेटियाँ बाबा की सेवा में दासोदास रहतीं। बाबा एक तरह से उस परिवार के गार्जियन थे।

हरिहर जी के डेरे से सटे ही दक्षिण मेरा डेरा था। और उनके डेरे से थोड़ा ही उत्तर कुलानंद जी का डेरा था।

बाबा अपने जीवन के तीसरे चरण में थे। परंपरागत अर्थ में उसे वानप्रस्थ ही कहा जाएगा, मगर वानप्रस्थ भी वाच्यार्थ में कैसे कहा जा सकता है? वे गृहस्थ ही कब थे कि वानप्रस्थ होते? मगर नहीं, इस अर्थ में वानप्रस्थ कहा जा सकता है कि लक्ष्य-प्राप्ति के प्रति, अपने जुझारू संघर्ष, भागदौड़, मुद्दा आदि के प्रति, झंझट आदि के प्रति अपनी गहरी संलिप्तता से थोड़ा वह मुक्त हो गए थे। 'थोड़ा मुक्त' मैं इस वजह से कहता हूँ कि वह मात्र अपने ऐक्टीविज्म से मुक्त हुए थे, वैचारिक प्रतिबद्धता से नहीं। इस चीज़ से मुक्त तो वह अपने जीवन के अंतकाल तक नहीं हुए, इस बात के हज़ारों साक्षी हैं और उसका एक साक्षी मैं भी हूँ।

बहुत बूढ़े हो गए थे। बुढ़ापा-जन्य रोग आदि घेरे रहते। दमा के तो वह परमानेन्ट मरीज थे। वह अपने को दमे का 'शरणदाता' कहते। अधिकतर समय बाबा चौकी पर लेटे रहते। चौकी पर लेटे ज़रूर रहते मगर बीमार नहीं रहते। यह अद्भुत विरोधाभासी बात उनमें मैंने देखी। पटना में एक भी दिन ऐसा नहीं हुआ कि उन्हें अपना तयशुदा कार्यक्रम कैन्सिल करना पड़ा हो। उनकी जीवनी-शक्ति अचूक और अखंड थी। और उस समय तक इसमें कोई छेद नहीं हुआ था।

ज़्यादातर चौकी पर लेटे-लेटे बाबा रेडियो सुना करते। अधिकतर बांग्ला प्रोग्राम सुनते। बीबीसी तो अवश्य ही सुनते। कितनी ही भाषाओं में रेडियो बजता रहता था—जर्मन में, फ्रेंच में, चीनी और रसियन में—बाबा आँख बंद करके सुनते रहते थे। कितनी बार मैं ऐसा अनुभव करता कि बाबा शब्द नहीं सुनते और इसीलिए भाषा उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती थी। मैं अनुभव करता कि वाचक की उच्चरित ध्वनियों के बीच जो लय थी, करुणा थी, जीवन की ऊष्मा थी, मौन था और दूसरी कई सारी चीज़ें थीं, बाबा उसे सुनते।

रात को बाबा बहुत कम देर सोते। ख़ूब-ख़ूब रात तक उनके रेडियो पर ध्वनि-प्रयोग चलता रहता था। नींद उनको काफ़ी रात गए थोड़ी देर के लिए होती थी। सोने से पहले वह ख़ुद ही रेडियो बंद कर लेते थे। एक दिन की बात याद आती है। बाबा सो चुके थे। निष्कंप, निश्चेष्ट। रेडियो किसी अज्ञात भाषा में बोलता ही चला जा रहा था। बहुत देर तक मैंने 'वाच' किया। मुझे लगा कि ध्वनि-प्रयोग करता यह रेडियो कहीं बाबा की नींद में बाधा न बन जाए। बहुत धीरे से, जैसे कि सामान्यत:

लोग नंगे तार के बीच रखे बिजली का उपकरण छूते हैं, मैंने अपना हाथ बढ़ाकर रेडियो को बंद कर दिया। हल्की-सी आवाज़ हुई—कट! आवाज़ बहुत हल्की थी। बाबा जगे भी होते तो नहीं सुन सकते थे। (इस बीच वह थोड़ा ऊँचा सुनने लगे थे) मगर जैसे ही रेडियो बंद हुआ, बाबा ने आँखें खोल दीं। मेरी हालत तो अब पूछिए मत! बाबा बोले, 'तो अब तक आप यहीं आसन जमाए हैं तारकानंद स्वामी जी!'

हरिहर जी मेरे ही इलाक़े के थे। बेलौस और ज़िंदादिल, जैसे कोसी क्षेत्र के लोग हुआ करते हैं। गाँव-घर, कुल-ख़ानदान से बहुत नेह-छोह रखने वाले। गाँव घर के लोगों के लिए वह एक बड़ा आसरा थे। राजधानी में रहते थे और सचिवालय में काम करते थे। इसलिए उनसे बहुत लोगों का उपकार होता। उनके यहाँ अतिथि-अभ्यागत अधिकतर आया करते थे। अतिथि-अभ्यागत आते तो बाबा को थोड़ी दिक़्क़त हो जाया करती यद्यपि कि उनके कमरे में शांति बनी रहती, इसकी चेष्टा सब-के-सब गंभीरता से करते थे। मगर मनोवैज्ञानिक दबाव भी होता है न।

हरिहर जी की दोनों बेटियाँ भी उस समय छोटी थीं। मतलब बालापन में। बच्चों से बाबा को बड़ा स्नेह, बड़ा लगाव, बाबा उन लोगों के परमप्रिय मित्र बने रहते। मगर यह मित्रता 24 घंटे के रूटीन में निरंतरता तो नहीं ही रख सकती थी। कभी-कभार यह होता कि बाबा बच्चों के हल्ले-गुल्ले से व्यवधान का अनुभव करते।

इस स्थिति में बाबा कुलानंद जी के यहाँ चले जाते अथवा मेरे डेरे में आ जाते। कुलानंद जी के डेरे की बाहरी कोठली अच्छी थी। किवाड़ भिड़ाकर कुण्डी चढ़ा दी जाए तो न भीतर की आवाज़ व्यवधान कर सकती थी न बाहर की। वहाँ बाबा को बड़ी सुविधा होती। वहाँ जाकर वह आराम करते। आराम की वही शैली। रेडियो बज रहा है और बाबा आँख बंद किये लेटे हैं। कितनी ही बार मुझे यह प्रतीत हुआ कि बाबा आत्मस्थ होने के लिए, प्रकृतिस्थ होने के लिए भी रेडियो खोल लिया करते थे।

कुलानंद जी उनके बहुत प्रिय थे। वह उनकी बेहद प्रशंसा करते, उनकी सूझ-बूझ, उनकी स्थापना, उनके विचार के वह भारी प्रशंसक थे। मेरे हृदय में तो उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी ही। बाबा मुझे समझाया करते कि कुलानंद जी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं। वह मुझे सलाह देते कि मैथिली साहित्य को देखने का हुनर मैं कुलानंद जी से सीखूँ।

कुलानंद जी मस्तमौला आदमी थे। स्वतंत्रचेता। अपने मन-मिज़ाज के प्रतिकूल

जाकर वह कोई काम कर नहीं सकते थे। सोच तक नहीं सकते थे। नौकरी करना उन्हें पसंद नहीं था। मगर भौतिक बाध्यता ऐसी थी कि वह नौकरी छोड़ भी नहीं सकते थे। कुलानंद जी के भीतर इतनी आग थी और ओज था कि उनके विचार के विरुद्ध जाकर उन्हें कोई सलाह तक नहीं दी जा सकती थी। जहाँ तक संभव होता वह नौकरी पर जाने से बचते। इधर बाबा इस विचार के समर्थक थे कि लेखकों को नौकरी ज़रूर करनी चाहिए। मतलब ऐसा कोई धंधा ज़रूर करना चाहिए जिससे भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। लेखक को अपनी भौतिक आवश्यकताओं का भार साहित्य पर नहीं लादना चाहिए। इस तरह दोनों दो मत के आदमी थे। बाबा चाहते थे कि कुला बाबू नियमपूर्वक ऑफ़िस जाएँ, पूरे मास का वेतन घर लाएँ। कितने ही दिन इस संबंध में बाबा मेरे पास चिंता करते। उनकी उस चिंता में 100 प्रतिशत पिता वाली संवेद्यता होती थी। मगर मुझे साफ़-साफ़ याद है कि बाबा इस संबंध में सीधे कुला बाबू को सलाह देने से परहेज करते।

कुलानंद जी परम संवदेनशील कवि थे। जिस सरकार की वह नौकरी कर रहे थे वह संवेदना का कट्टर विद्वेषी। सचिवालय का जो वातावरण था, वह घोर अरचनात्मक। उचित तो होगा कि विध्वंसक कहा जाए। उस सचिवालय में इस चूड़ांत संवेदनशील कवि को नौकरी करनी पड़ती थी। बाबा का आग्रह अपनी जगह था। उस आग्रह का अपना व्यावहारिक महत्त्व था, मगर बाबा जैसे क्रांतिदर्शी कवि कुलानंद जी से असहमत कैसे हो सकते थे। हाँ, चिंता कर सकते थे। सदिच्छा व्यक्त कर सकते थे और यही वह अंततः करते भी थे। सचिवालय का बस प्रायः दस बजे भागीरथी लेन के सामने मेन रोड पर लगती थी। उसी से कुलानंद जी ऑफ़िस जाते। उसी समय के आस-पास मैं भी अपने डेरे से तैयार होकर निकलता। बाबा के पास आता। उस दिन का प्रोग्राम आदि बनता। बाबा कुलानंद जी के यहाँ जाने की इच्छा करते या मेरे डेरे पर। वह जहाँ जाना चाहते मैं उनको झोला-सहित पहुँचा देता और तब मैं भी विश्वविद्यालय जाता। कुलानंद जी का समूचा परिवार बाबा के आगमन के प्रति साकांक्ष रहता था। बाबा कभी-भी आ सकते हैं सो बाहर वाली कोठरी हमेशा तैयार रखी जाती थी। जब कभी बाबा दस बजे के आस-पास आते उनका पहला प्रश्न होता, 'कुला बाबू गए?'

एक बार का वृत्तांत याद आता है। दो दिन लगातार ऐसा हुआ कि आकर बाबा ने पूछा, 'कुला बाबू गए?'—तो उनको उत्तर मिला नहीं। और जब कुलानंद जी से इसका कारण पूछा गया तो वह बोले कि लेट हो गया। बस निकल गई।

उस दिन बाबा सबसे अधिक चिंतित हुए थे। बहुत देर तक इस प्रश्न पर विचार

करते रहे थे। तब उन्होंने मुझसे कहा, 'जानते हैं तारा बाबू, कुला बाबू को क्यों देर हो जाती है? उनके पास घड़ी नहीं है। हमलोग प्रोग्राम बनाएँ कि उनकी मदद की जाए। चलिए आज शाम में बाज़ार। कुला बाबू के लिए घड़ी ख़रीदी जाए।'

और तब बाबा अपने सिरहाने के नीचे से रुपए का पैकेट निकालकर गिनने लगे थे। रुपए-पैसे वे सिरहाने के नीचे रखते अथवा झोले में। रुपए गिन कर वह प्रसन्न हुए थे कि इतने पैसे उनके पास हैं कि वह कुला बाबू के लिए घड़ी ख़रीद सकते हैं।

याद नहीं आता, उस दिन शाम में बारिश होने लगी या कोई अन्य कारण हुआ, हम बाज़ार नहीं जा सके। यह भी याद नहीं आता कि घड़ी उन्होंने ख़रीदी या नहीं। मेरे साथ तो नहीं ही ख़रीदी।

मेरा डेरा निविड़ एकांत में था। ऐसा एकांत कि आठ दिन तक अगर डेरे में ही पड़ा रहूँ तो मानव-जाति से भेंट तक नहीं होगी। मेरे यहाँ अतिथि अभ्यागत के आने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। मित्र-मुलाक़ाती लोग भी नहीं के बराबर ही आते। मैं सारा दिन डेरे से बाहर रहता, क्लास करता और तब केंद्रीय पुस्तकालय में जाकर समय बिताता। डेरे में निविड़ एकांत था। बाबा ने जब पहली बार आकर डेरे को देखा तो उन्हें वह बड़ा पसंद आया। उन्होंने मुझसे कहा था, 'कविता लिखने वाली जगह है।'

उनके साथ रहते हुए मैंने अनुभव किया कि कविता लिखने वाली जगह को लेकर भी बाबा की अपनी मान्यता थी। वे कहते कि कविता-लेखन इतने सघन एकांत में होना चाहिए, जितने एकांत और मौन में बीज से अंकुर फूटता है। मिट्टी के भीतर दबे बीज के अंकुरित होने का बिम्ब उन्हें बहुत प्रिय था। कितने ही प्रसंगों में वह इस बिम्ब को कोट करते।

सो बाबा को वह कोठली बहुत पसंद आई। जहाँ तक मेरी क्षमता थी कोठली को सुंदर-सुव्यवस्थित करने की मैंने चेष्टा की। बाबा की प्रसन्नता मेरे लिए बड़े महत्त्व की थी। उनकी सेवा करके मैं अथाह सुख पाता।

उस डेरे में बाबा के प्रथम प्रवेश के बाद एक तरह से यह नियम बन गया कि जब बाबा को विश्राम करने के लिए एकांत ज़रूरी होता, वह कुलानंद जी के यहाँ जाते। और जब उन्हें कविता पर सोचने और लिखने के लिए एकांत की ज़रूरत पड़ती वह इस डेरे में आते। शुरू में कितनी बार ऐसा होता कि यूनिवर्सिटी जाते

वक़्त मैं बाबा को कोठली की चाभी देता जाता। बाद में उसकी दो चाभियाँ बनवा ली गईं जिसमें से एक हरिहर जी के ड्राइंग रूम में टंगी रहती थी।

यूनिवर्सिटी के लिए विदा होने से पहले मैं बिस्तर झाड़कर ठीक कर देता। काग़ज़-पत्तर समेटकर एक ओर कर देता। घड़े में ताजा पानी रखकर ढक देता। उनपर मैं ग्लास उल्टा कर रख देता। मतलब कोठली को अपने हिसाब से सुव्यवस्थित कर देता ताकि बाबा आएँ तो उन्हें कोई असुविधा न हो। पटना के शुरुआती दिनों में बाबा बांग्ला में कविता लिखते थे। कम-से-कम पाँच बांग्ला कविताएँ उनकी मैंने देखीं जो इस कालखंड में लिखी गईं थीं। ठीक-ठीक याद नहीं आता कि 1985 में बाबा जब पटना में रहने आए थे, वह कहाँ रहकर आए थे! मेरा अनुमान है कि ज़रूर ही वह बंगाल में रहकर आए होंगे, जिसकी तरंग अभी तक फूट रही थी। बाबा की दृढ़ मान्यता थी कि जिस संस्कृति और भाषा के क्षेत्र में रहिए उसी में कविता-लेखन कीजिए। केरल में रहकर अगर मैथिली कविता लिखी जाए तो उसको शुद्ध कविता होना कठिन है, वह यह मानते थे। बाबा का प्रसिद्ध जुमला था, खाइए खेसाड़ी और हगिए कलाकन्द—यह कैसे होगा?

बांग्ला में लिखी वे कविताएँ कब कहाँ छपी यह मुझे नहीं पता है। बांग्ला का दौर ख़त्म होने के बाद बाबा हिंदी में लिखने लगे। मैं देखता कि बाबा नियमित लेखन नहीं करते थे। जब कभी कोई दबाव महसूसते, झोले से पैड निकालकर लिखने लगते। अपनी कविता के आइडिया पर अथवा थीम पर वह कोई चर्चा नहीं करते थे। मुझसे तो नहीं ही। थीम भीतर-ही-भीतर उनके अंदर पल्लवित-पुष्पित होता रहता हो, संभवत:। मगर यह भी हो सकता है कि जैसे ही उनको थीम फ्लैस करता, एकांत पकड़ लेते और उसको तत्काल लिख ही जाते। इस संबंध में मैं निर्णायक रूप से कुछ नहीं कह सकता। कारण, मैंने यह चीज़ भी देखी है कि छान्दस क्रमबद्धता में गुम्फित उनकी कविताएँ भी सीधे एकबारगी लिखी जाती थीं जबकि मेरे हिसाब से ऐसी कविता का मुखड़ा पहले उतार देना और बाद में शेषांश जोड़कर पूरा कर लेना अधिक सुविधापूर्ण होता।

पाँच-छह के क़रीब मैथिली कविताएँ भी प्राय: उन्होंने इस कालखंड में लिखी होंगी। इनमें से अधिकांश संपादकों के अनुरोध पर लिखी गई थीं। उन दिनों बाबा अपने ही हाथ से कविता लिखते थे। यह दौर बहुत बाद में जाकर आया कि कविता वह डिक्टेशन देकर लिखाते। कितनी ही बार हाशिया बहुत अधिक छोड़ देते और फल होता कि अक्षर बड़ा-बड़ा होने के कारण शब्दों के समावेश के लिए पन्ने पर जगह कम पड़ जाती। ऐसी स्थिति में उनकी काव्य पंक्तियाँ छोटी-छोटी होने लगतीं।

कई बार यह होता कि कविता लिख चुकने के बाद भी कविता से वह मुक्त नहीं हो पाते यद्यपि कि ऐसा कम ही होता। यह बहुत रोचक बात मुझे लगी थी उनमें। प्राय: सभी कवियों के साथ ऐसा होता होगा। आप कविता लिख चुके हैं। आवेग जो था वह काग़ज़ पर उतर चुका। मुखमंडल पर प्रदीप्ति फैल गई है—आत्माभिव्यक्ति-जन्य सुख से भरे-भरे-जैसे हैं। ऐसी स्थिति में बाबा क्या करते थे कि कविता की पंक्तियों को गिनने लगते थे, गिनते गए और उस पर बीच-बीच में लाइन नंबर बैठाते गए। पाँचवी पंक्ति के पास लिखते पाँच, दसवीं पर दस और पन्द्रहवीं पर पन्द्रह। बाबा के लिए यह खेल बड़ा मनोरंजक होता था। पंक्तियों की गिनती करते-करते बाबा कविता के आवेग से मुक्त होकर धरती पर उतर आते थे।

मेरा अनुभव है कि इस कालखंड में आने के पहले बाबा अपने जीवन का सबसे श्रेष्ठ कविता-चरण पूरा कर चुके थे। उनकी कविताई के तीन प्रस्थान-बिंदु हैं। इन तीनों प्रस्थान-बिंदु की चर्चा 1975 में लिखी अपनी प्रसिद्ध कविता 'प्रतिबद्ध हूँ' में उन्होंने भी की है। ये तीनों प्रस्थान बिंदु हैं—प्रतिबद्धता, सम्बद्धता और आबद्धता। मुझे लगता है उनके काव्य जीवन का प्रारंभिक दौर आबद्धता से शुरू हुआ और उल्टे क्रम में चलते हुए प्रतिबद्धता तक आया। बाबा वैसे तो बहुत अर्थ में विराट थे मगर इस अर्थ में तो बहुत ही विराट थे कि जिस प्रस्थान-बिंदु को एक बार वह पार कर गए और दूसरे पर आ गए वह (पहला) प्रस्थान-बिंदु भी अपनी संपूर्णता में उनके साथ बना ही रहा। आमतौर पर कवियों में विगत दौर का एसेन्स (सार) ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है (उनकी तो बात ही व्यर्थ, जिनमें विद्यमान ही नहीं रहता, एकदम राजनीतिक नेता की तरह जो एक दल को छोड़कर दूसरे में आता है तो अपनी संपूर्ण संबद्धता वहीं त्यागकर आता है, स्वार्थवश, छद्मवश) बाबा में यह एसेन्स एकदम प्रकट रूप से, ऐंद्रीय स्थूलता से परिपूर्ण रूप में विद्यमान रहा है। 'पत्रहीन नग्न गाछ' (1967) मुझे उस विभाजक वर्ष की तरह दीख पड़ता है जहाँ बाबा अपने तीनों प्रस्थानों में परिपूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। इस वर्ष के आस-पास का समय उनकी रचनाशीलता का उत्कर्ष काल है। न केवल मैथिली में अपितु हिंदी में भी। वस्तुत: बाबा के संदर्भ में विचार करते हुए हिंदी-मैथिली को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है। नहीं देखा जाना चाहिए।

1970 का दशक मुझे ऐसे काल की तरह लगता है, जब बाबा सर्वाधिक सक्रिय रहे—तीनों मोर्चे पर, तीनों प्रस्थानों में। यह स्वाभाविक था। उनका उत्कर्ष इस दशक में अपनी चरम अभिव्यक्ति पा रहा था। तीनों प्रस्थानों का बहुरंगी चित्र इस दशक की उनकी कविताओं में मिलता है।

1980 का दशक आते-आते बाबा शुद्ध द्रष्टा भाव में आ गए थे। शुद्ध द्रष्टा-भाव से मेरा तात्पर्य क्या है? जो मेरे सामने है उसे मैं उसकी संपूर्णता में, उसकी विद्यमानता में देखूँ बिना किसी आग्रह के। बिना किसी मान्यता को आगे रखे हुए। आग्रह और मान्यता चयन पर बल देते हैं। आग्रह कहता है कि हमलोगों को कुछ भी नहीं देख लेना चाहिए। देखना चाहिए मात्र उसे जो हमारे आग्रह की पुष्टि और समर्थन करता हो। सो चयन शुद्ध द्रष्टा-भाव में टूट जाता है। एक तरह से इसे चयन-बुद्धि का परित्याग भी कहा जाएगा। इस 'चयन-बुद्धि के परित्याग' का भी क्या तात्पर्य है? क्या शुद्ध द्रष्टा-भाव आ जाने से कोई कम्युनिष्ट आर.एस.एस. के समर्थन में लिखने लगेगा? बात-बात में बौद्धिक बाजीगरी ढूंढ़ने वाले इस बात को भी यहाँ ढूंढ ले सकते हैं। मगर नहीं। इस मामले को किसी नियम, किसी मर्यादा में नहीं बांधा जा सकता। यह शुद्ध रूप से कवि के अंतर्गत और मनोरचना पर निर्भर करता है। कवि अगर मूलत: जनसंघी ही हुआ और कम्युनिष्ट होने का नाटक करता हो तो यह हो ही जाएगा। शुद्ध द्रष्टा-भाव परम सहजता की दशा है, ऋषित्व है। अकारण नहीं है कि प्राचीन भारत में कवि और ऋषि पर्यायवाची थे। ऋषि होना क्रांतिकारी होने की विपरीतावस्था नहीं है। ऋषि होना सहज होने के आस-पास की अवस्था है। क्रांतिकारिता अगर आपके संपूर्ण व्यक्तित्व में है तो क्या सहज होने से वह क्षरित हो जाएगी?

इस दशक के प्रारंभ में ही लिखी बाबा की कविता, 'बप्प रे बप्प! बाप रे बाप!' मुझे बहुत प्रिय है। चकित होने का भाव इस कविता में है। मतलब कि कवि को चकित होना चाहिए। चकित होने के लिए यह समूचा ब्रह्मांड पड़ा है, चाहिए बस इतना ही कि देखें हम ज़रा ध्यान से।

सो, कह रहा था कि बाबा की रचनाशीलता के समस्त चरण इस कालखंड से पहले ही पूरा हो चुके थे। और वह एक अर्थ में कविता में अब 'विहार' कर रहे थे, 'विहार' जैसे बुद्ध करते थे, बाबा के एक प्रिय व्यक्ति—गौतम बुद्ध।

एक यह बात मैंने ग़ौर करके देखी है कि गोष्ठियों में बाबा अगर जाते और वहाँ कविता सुनाते तो वह अनिवार्य रूप से उनकी ताजा कविता नहीं रहती थी। अपनी चार-पाँच पुरानी कविताएँ उन्हें याद थीं। जहाँ-कहीं वह जाते, जहाँ-कहीं उनसे कविता सुनाने का आग्रह होता, वह इन्हीं चारों-पाँचों में से कोई कविता सुनाते। वे कविताएँ थीं, 'अकाल और उसके बाद', 'कालिदास', 'चंदू मैंने सपना देखा', 'शासन की बंदूक़', 'जगतारनि' (मैथिली)। ये कविताएँ मैंने दर्जनों बार बाबा के मुँह से विभिन्न जगहों पर सुनी हैं। हाँ, एकाध गोष्ठियों में जाना मुझे याद आता

है, जैसे पटना कॉलेज की गोष्ठी जिसमें गोरख पाण्डे आए थे, उसमें बाबा ने बहुत उत्साहपूर्वक इन पाँचों से भिन्न कविताएँ सुनायी थीं। यह अपवाद-गोष्ठी थी।

एक बार मैंने पूछा था, 'बाबा, आप नई कविताएँ क्यों नहीं सुनाते हैं?'

उन्होंने कहा था, 'कैसे सुनाऊँगा? यह 'पढ़ने वाली' कविता है, वह 'सुनने वाली' कविता है। मंच पर सुनने वाली कविता पढ़नी चाहिए। पढ़ने वाली कविता अगर मंच पर सुनाइएगा तो वह नहीं जमेगा।'

अद्भुत! शताब्दी के इस सूत्रधार को भी यह चिंता थी कि कैसी कविता जमेगी, कैसी नहीं! मगर बाबा तो बाबा थे।

एक दिन का प्रसंग याद आता है। प्रसंग देवशंकर नवीन से जुड़ा है।

नवीन तब डाल्टनगंज में, जी.एल.ए. कॉलेज में मैथिली पढ़ाते थे। वह थे मेरे परम प्रिय मित्र। उनके साथ मित्रता हुई महिषी में (महिषी उनका मातृक, मेरा गाँव), परवान चढ़ी सहरसा में जहाँ वह पी. जी. सेंटर के विद्यार्थी थे। 1985 में हम दोनों मित्रों ने अलग-अलग दिशा पकड़ी। वह डाल्टनगंज आकर लेक्चरर हुए और मैं पटना यूनिवर्सिटी का विद्यार्थी हुआ।

नवीन का वह समय साहित्य में सुच्चा रंगरूट वाला समय था, जबकि मैं थोड़ी प्रसिद्धि पा गया था। मैं अनुभव करता, मेरे संग उनकी मित्रता में एक सूक्ष्म आदर-भाव भी निहित हुआ करता। उन दिनों वह एकदम ताबड़-तोड़ गति में सक्रिय थे। अधिकतर कविताएँ लिखते। ग़ज़लें भी, थोड़े गीत भी। बाद में समीक्षा की तरफ़ भी उनकी नज़र गई। वह लिखते मगर ताबड़तोड़। मित्रता ऐसी थी कि हमलोग गहन से गहन संपर्क-सामीप्य की अभीप्सा रखते। नवीन थोड़ा पैसा कमाने लगे थे। मेरे लिए पैसा बहुत महँगी चीज़ था। सो निर्णय यह हुआ कि नवीन छुट्टी में पटना आ जाया करेंगे। मेरे डेरे पर छुट्टी बिताएँगे और हम सामीप्य-सुख प्राप्त करेंगे। नवीन चलन्त और यायावर आदमी थे जबकि मैं था गाछ। जिस जगह रोप दीजिए वहीं पड़ा रहूँगा। मैं तो कभी डाल्टनगंज नहीं जा सका। नवीन मगर नित्य नियम से आते रहे। धीरे-धीरे क्रम यह बन गया कि प्रत्येक शनिवार को वह आ जाते और सोमवार को वापस पलामू एक्सप्रेस पकड़ते। नवीन जब पटना आते, मैं घर-घुसना हो जाता, समझिए। दो दिनों तक कहीं नहीं निकलता। अधिक-से-अधिक समय सृजन पर चर्चा, बौद्धिक बहस, योजना, कार्यान्वयन। नियम था कि जैसे ही वह आते, फ्रेश होकर अपनी रचना की पिटारी खोल लेते। इस एक सप्ताह में उन्होंने

जो-जो लिखा होता वह सब सुनाते जाते और उसपर चर्चा होती। एक सप्ताह में नवीन इतना लिखते जितना मैं एक महीने में भी नहीं लिख सकता था।

सो उस दिन की बात कह रहा था। सुबह-सुबह नवीन आये। फ्रेश हुए। और, रचना की पिटारी खुल गई। मेरी पूरी चौकी उनकी कविताओं का प्रदर्शनी-संग्रहालय बन गई। उन्होंने कोई कविता सुनायी थी और उसपर हमलोग चर्चा कर रहे थे कि तभी लाठी ठकठकाते बाबा प्रकट हो गए।

हुआ यह था कि नवीन के आ जाने से सुबह के वक़्त मैं उनके पास नहीं पहुँच सका था।

बाबा प्रकट हुए कि हम दोनों उठकर खड़े हो गए। प्रणाम किया। पूरी कोठली नवीन की कविताओं की वजह से अस्त-व्यस्त थी। संग्रहालय समेटने में मैं भी अस्त व्यस्त हो गया। बाबा के लिए बैठने की जगह बनायी गई।

बाबा ने पूछा, 'क्या हो रहा था? कविताएँ चल रही थीं?'

मैंने कहा, 'हाँ बाबा, नवीन जी कविताएँ सुना रहे थे बहुत अच्छी कविताएँ लिखी हैं।'

मेरी यह आदत बहुत विकट थी। सीधी और सरल अभिव्यक्ति में मैं अपनी बात नहीं कहता। विशेषण लगा देता। उपवाक्य जोड़ देता। कविता लिखी है तो बहुत बढ़िया। आदमी हैं तो बड़े उत्तम। कौआ है तो परम काला। यह कोई तरीक़ा हुआ? सीधा-साफ़ नहीं बोल सकते? मेरी यह आदत थी और यह बाबा को पसंद नहीं। इसके लिए कितनी ही बार उन्होंने मेरी ख़बर ली, इसकी अनंत कथाएँ हैं।

बाबा पालथी मारकर बैठ गए। काव्यानंद में डूबने के लिए जैसे तैयार हो गए। उनकी यह तैयारी उनकी आकृति पर स्पष्ट उभरने लगी। एक शब्द में कहा जाए कि वह मूड में आ गए। बोले, 'तो सुनाइए।'

नवीन मेरी ओर देखने लगे। तात्पर्य था कि कौन-सी कविता सुनाई जाए? स्थिति को सहज बनाते हुए मैंने कहा, 'अभी जो सुनाया था वही सुनाओ न!'

नवीन ने वह कविता उनको सुनायी। कविता अब मेरी स्मृति में नहीं है। वह कविता कहाँ छपी यह भी पता नहीं है। संभवत: 'चानन काजर' में वह कविता संकलित हुई हो। याद बस इतना ही आता है कि कविता में कहीं एक या दो जगह गांधी जी का उल्लेख हुआ था।

एकदम ठीक-ठीक याद है कि इसी जगह से बाबा ने अपनी समीक्षा शुरू की थी—कविता में आए गांधी जी के संदर्भ से। वह कहने लगे, 'प्रसिद्ध व्यक्तियों का अपना प्रभामंडल होता है, अपनी चमक होती है। वह एक आग्रह का निर्माण

करता है। साधारण आदमी जो प्रसिद्ध व्यक्ति की चर्चा करता है तो वह इसी प्रभामंडल के, इसी आग्रह के दबाव में। कवियों को क्या ऐसे ही देखना चाहिए? जैसे आम आदमी समझता है वैसे ही आपको भी समझना चाहिए? आग्रह के जिस जाल में जन–साधारण फँसा है उसी में क्या कवि भी फँसे? तब आप कवि क्या हुए, कपि हुए। आपको अपनी आत्मालोचना की बुद्धि नहीं होगी तो कैसे कविता लिखेंगे?' गांधी–चर्चा पूरी करने के बाद बाबा देश–विदेश की तरफ़ लौटे। तब वह राजनीति पर आए। तब वह कोण पर बात करने लगे, 'किस 'कोण' से दुनिया को देखना चाहिए, जिससे कविता का (उनका अर्थ था—उत्तम कविता का) जन्म होता है।' तब वह फ्रीक्वेंसी पर बोले। मतलब कि किस फ्रीक्वेंसी में कवि को उतरकर कविता में बात करनी चाहिए, तब बाबा नवीन के शब्द–सामर्थ्य पर आये, उक्ति–भंगिमा की चर्चा की। शैली पर बोले। कविता में प्रयुक्त बिम्ब पर प्रकाश दिया। नया प्रतीक गढ़ने के लिए कैसी अंतर्दृष्टि की ज़रूरत होती है, इस पर प्रकाश दिया। मैथिली कविता की परंपरा पर वह बोले। और जोड़ दिया कि परंपरा के विकास के लिए किस जागरूकता की ज़रूरत होती है। तब वह निराला पर बोलने लगे—नई परंपरा का निर्माण, मगर अपनी परंपरा में भी बंधे नहीं रहने का संकल्प। वह प्रकाश डालने लगे कि क्रांति कहाँ से पैदा होती है।

बाबा ने जब अपनी समीक्षा ख़त्म की, ढाई घंटा के क़रीब समय बीत गया था। वह ऐतिहासिक क्षण था। नवीन गदगद थे। समापन करते हुए बाबा ने नवीन से कहा, 'यह कविता आप फिर लिखिए। फिर मुझे सुनाइएगा।'

मुझे लगा कि बाबा इतना बोले हैं, इनको चाय पिलानी चाहिए। चाय बनाने का इंतजाम मेरी कोठली में नहीं रहता था। बाहर निकलकर चाय पी आया करता। मैंने ग्लास निकाला और कहा, 'बाबा, आपको चाय पिलाता हूँ।'

बाबा को पता था कि चाय जब मुझे लानी रहती है तो मेन रोड (महेन्द्रू रोड) पर से लाता हूँ। वह अब भी रौ में थे। नवयुवकों की तरह उत्साहित। हमलोगों की तरह ही। बाबा उठकर खड़े हो गए, 'चलिए वहीं चलकर पीते हैं।'

उस दिन का एक प्रसंग याद आता है, ठीक उसी समय का। हमलोग भागीरथी लेन को पार करते हुए मेन रोड के पार पहुँचे। भागीरथी लेन के मुँह पर उन दिनों पान की एक प्रशस्त दुकान थी। अब वह नहीं है। प्रायः 'अतिक्रमण हटाओ' अभियान में हटा दी गई। उस दुकान पर हमेशा भीड़ रहती थी। पान भी वह मरदे कमाल का लगाता था! देवशंकर नवीन उसके पान के दीवाने थे। एकाध दिन बाबा को भी शौक से उसका सादा पान खिलाया था।

तो उस पान की दुकान के पास आए तो देखता क्या हूँ कि दो-तीन साइकिल ठीक गली के मुँह पर ऐसे लगी थी कि पार करना मुश्किल था। वे युवक विद्यार्थियों की साइकिलें थीं। हो सकता है विद्यार्थी नहीं भी हों मगहिया लफ्फूगण हों। खैर। वे युवक साइकिल लगाकर सिगरेट पी रहे थे। उन दिनों गुटखे का चलन नहीं था कि लिया, फाड़ा, डाला और चल दिये। युवक अधिकतर सिगरेट पीते और उसमें उन्हें अपना क़ीमती समय खड़े होकर बर्बाद करना पड़ता।

साइकिल लगी देखीं तो युवकों से कहा, 'भाई ! साइकिल साइड कर लीजिए', मगर उन सब को क्या पड़ी थी ? उनसे बड़ा कौन ? निश्चिंततापूर्वक वे मेरी बात पर ग़ौर करते कि तब तक देखता हूँ कि बाबा साइकिल से भिड़ गए। वह साइकिल को खींच-खींच कर साइड करने लगे। एक साइकिल को तो साइड कर लिया, दूसरे को करने लगे कि वह साइकिल गिर पड़ी। बाबा गुस्से में थे। बोलते भी जा रहे थे—नासमझ हैं सभी, कॉमनसेंस नहीं है, बेड़ा गर्क करेंगे आदि-आदि।

साइकिल का गिरना था कि तीनों युवक मेरी ओर लपके, वे झंझट करने के मूड में थे। बाबा की ओर वे सब आँख लाल करके देखने लगे।

उस दिन मैंने नवीन की फुर्ती और अक्लमंदी देखी थी। वज्र स्वर में उन्होंने पहले फुँफकार मारा, 'ऐ विद्यार्थी !' और उसके बाद स्वर को कोमल करते हुए कहने लगे, 'इन बाबा को आपलोग पहचानते हैं ? नागार्जुन का नाम सुना है ? सुनिएगा कैसे ? आप लोग तो साहब बिहारी हैं कि क्या हैं।' आदि-आदि।

दो-तीन मिनट बीतते वे तीनों युवक बाबा से माफी माँगने लगे। वे सब नागार्जुन का नाम नहीं जानते थे। मगर नवीन की उपस्थापन-शैली ऐसी थी कि दो ही मिनट में वे सब मामले का अंदाज़ा पा गए।

तो मैं कह रहा था कि कविता-लेखन को लेकर बहुत गंभीर मान्यता बाबा की थी। कविता-लेखन को हल्का-फुल्का काम न वह स्वयं समझते थे और न ही पसंद करते थे कि कोई और समझे। आपको बहुत अच्छा भाषा-ज्ञान है, एम.ए., पी-एच.डी. पास हैं, मन की बात को व्यक्त करने का हुनर रखते हैं, इसी से आप कवि हो गए, बाबा यह मानने को राजी न होते। संस्कृत काव्य-शास्त्र में जो तीन काव्य-कारण बताए गए हैं, शक्ति, निपुणता, अभ्यास—इन तीनों का शत-प्रतिशत समाहार वह चाहते थे। जबकि सामान्यतया कवि-समाज हड़बड़ी में रहता है, शॉर्टकट रास्ता ढूंढने की चेष्टा करता है।

याद आता है, एक बार उन्होंने मुझसे पूछा था, 'इति हेतुस्तदुद्भवे।' है कि नहीं? कहिए तो। 'हेतुः' क्यों? 'हेतवः' क्यों नहीं?' और मैंने जब जवाब दिया था तो वह बड़े ख़ुश हुए थे। काव्यशास्त्र का यह संदर्भ है। काव्य-कारण बताते हुए मम्मटभट्ट कहते हैं कि शक्ति निपुणता और अभ्यास काव्य का हेतु है। हेतुः (एकवचन) वह कहते हैं, 'हेतवः' बहुवचन नहीं। कारण मम्मट की मान्यता है कि ये तीनों मिलकर एकमएक होकर ही काव्य के कारण हैं। इस तरह एकमएक होकर कि तीनों को तीन (बहुवचन) नहीं माना जाएगा, तीनों मिलाकर एक (एकवचन) माना जाएगा।

इस तरह के प्रश्न पूछ-पूछकर मनोरंजन करना बाबा की आदत थी। संस्कृत-शास्त्र के विचित्र उलझे हुए प्रश्न वह उठाते। कविताओं में से ऐसी-ऐसी पंक्तियों से कोई पूछ देते, जो सामान्यतः लोग पढ़े तो होते हैं, मगर उसकी जड़ में जाना ज़रूरी नहीं समझते। 'लृ' को स्वर क्यों माना जाता है, जबकि यह तो व्यंजन से बना है? यक्ष (मेघदूत में) जिस रामगिरि के आश्रम में निवास करता है, उसे कालिदास ने 'गिर्याश्रमेषु' (बहुवचन) क्यों कहा? 'आश्रम' या कि 'आश्रमेषु'? 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' में 'गुण' का वास्तविक अर्थ क्या? 'अन्न' और 'फल' में क्या अंतर? यह भी फूलता है वह भी फूलता है, यह भी फलता है, वह भी फलता है। तब किस गुण से अन्न, किस गुण से फल?

याद आता है। मुझपर जो बाबा ने कविता लिखी थी, उस कविता का समापन इसी प्रश्न से होता है—कहो बच्चा, अन्न और फल में क्या अंतर? आदि-आदि। उन दिनों बाबा से जो मेरा संबंध था वह एकदम रमचेलवा वाला। बिल्कुल कोचिंग इन्स्टीच्यूट के विद्यार्थी की तरह। बाबा के बुढ़ापे की लाठी बनने के योग्य। उन्हें एक संस्कारी बालक की ज़रूरत थी, वह मैं था। मुझे अपने श्रद्धावान जिज्ञासु के लिए एक 'आत्मज्ञानी' की ज़रूरत थी, वह बाबा थे। आज मेरे लिए उनका जो रूप सबसे यादगार है, वह है उनका गुरु-रूप। वह एक चूड़ांत गुरु थे। कबीर दास जो गुरु को कुम्हार कहते हैं बिल्कुल वैसे। बहुत लोगों ने यह बात कही है कि बाबा को युवा पीढ़ी से बहुत मेल रहता था, लेकिन यह भी सच है कि कर्मठ, प्रज्ञावान और व्यवहार-बुद्धि संपन्न युवा से कम पर समझौता करने के लिए वह एकदम तैयार नहीं होते थे। तब, उनकी विराटता इस बात में निहित थी कि अगर युवा मित्र में कोई त्रुटि उन्हें दीखती थी तो परम धैर्यपूर्वक वह इस त्रुटि का निवारण करते थे। उनका धैर्य अथाह था, यद्यपि कि क्रोध भी भयंकर था।

इस बीच मैं ख़ुद में हर तरह से विधेय गुणों को विकसित करने की चेष्टा

करता रहा, मगर मेरा देहातीपन छूटा नहीं था। ख़ूब पढ़ता सो जानकारियाँ बहुत इकट्ठी हो गई थीं। ख़ुद को विद्वान समझता। आत्मविश्वास जो प्रखर हुआ, वह धीरे-धीरे अहंकार के रूप में व्यक्त होने लगा। जब कभी भी बौद्धिक प्रश्न उठते, ख़ूब बोलने की चेष्टा करता। वक्तृता का थोड़ा गुण अपने में विकसित कर लिया था। श्रोताओं पर मेरा प्रभाव बढ़ता। संस्कृत-ज्ञान के प्रभाव से काव्य-पाठ भी प्रभावशाली करने लगा था। जहाँ कहीं भी मौक़ा मिलता, छा जाना चाहता। ख़ुद को विद्वान मनवाकर छोड़ना चाहता।

बाबा ने इन बातों को लक्ष्य किया था। उन्हें ये बातें नापसंद थी। वह मुझसे साफ़-साफ़ कहते कि किन दुर्गुणों की वजह से मैं खोखला होता जाऊँगा। उनकी सबसे बड़ी आपत्ति थी—मेरे बहुत बोलने पर। उनका कहना था—मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता। संक्षेप में बोलिए, सार-वाक्य बोलिए, यही तो श्रेष्ठ वक्तृता है। मुझे उन्होंने अनेक उपाधियाँ दे रखी थीं, 'वाचाल, चिबिल्ला, जीभ घसीटन, वचन बहत्तर' आदि। एक बार (प्राय: पटना कॉलेज में) एक सेमिनार में मुझे बोलना था। वहाँ बाबा थे। मेरे भाषण के बाद उन्होंने सार्वजनिक रूप से मेरी ख़बर लेते हुए कहा था, 'ये जनाब तो वचनबहत्तर हैं।' मुझे बहुत शर्म आई थी, मगर गुस्सा भी बहुत आया था।

बाद में बाबा ने मुझे परम प्रेमपूर्वक समझाया था, 'ख़ुद ही बोलते रहिएगा तो दूसरे को सुनिएगा कैसे? श्रवण-शक्ति का विकास कैसे होगा? जितना ज्ञान है उतना ही रह जाएगा। आप नहीं बोलिएगा तो दूसरे को घाटा होगा। आप बोलिएगा तो आपको घाटा होगा। दूसरे के मत-विचार जानने से वंचित रह जाइएगा। जितनी श्रवण-शक्ति बढ़ेगी, उतना विद्वान होइएगा, आदि-आदि। उनकी यह बात मुझे छू गई थी। अकारण नहीं है कि आज बिना एक शब्द बोले मैं लगातार किसी वक्ता को दो-चार घंटे तक सुन सकता हूँ, मगर ख़ुद जब बोलने का अवसर आता है तो कदाचित अब भी थोड़ा ज़्यादा ही बोल जाता हूँ।

दूसरी एक आदत थी मेरी, निरर्थक प्रश्न पूछने की। मान लीजिए कि बाबा दो घंटे के लिए कहीं विदा हुए और दस मिनट में ही लौट आए। मैंने देखा तो प्रश्न किया, 'बाबा, आ गए?' इस प्रकार का प्रश्न उन्हें असहनीय रूप से बेवजह और मूर्खतापूर्ण लगता था। भाई, जब तुम देख ही रहे हो कि मैं आ गया तो यह पूछने का क्या मतलब है कि आ गए? आ नहीं गए तो क्या चले गए? ऐसे-ऐसे प्रश्नों पर वह मुझे बेवकूफ़ बनाते। मेरे पास तो अनंत प्रश्न थे। अपार जिज्ञासाएँ। अधिकतर यह ग़लती होती रहती और तब बाबा की डाँट सहनी पड़ती। एक बार क्या देखा

कि बाबा बांग्ला की कोई पत्रिका पढ़ रहे हैं। मैं चुपचाप उनके पास जाकर बैठा तो थोड़ी ही देर में वह ख़ुद कहने लगे बांग्ला की नहीं असमिया की पत्रिका है। और उसमें अमुक-अमुक चीज़ छपी हैं। अब इस पर मैंने पूछ दिया—आपको असमिया भी आता है बाबा? इस प्रश्न का कोई मतलब था? आता नहीं तो पढ़ कैसे रहे हैं। आज भी यह प्रश्न याद आता है तो हँसी आती है। मगर उस दिन मेरी जो फजीहत हुई थी, वह क्या कहूँ! उसको तो गंजन नहीं कहा जाय, 'चूड़ाठन' कहा जाए।

आगे चलकर मैंने उनके तात्पर्य को पकड़ा। वह भीतर से गहराई पैदा करना चाहते थे। वह मुझे 'अप्पदीप' बनाना चाहते थे। प्रश्न पूछना उचित है और स्वाभाविक भी। मगर प्रश्न करने की स्थिति क्या होना चाहिए? नई बात को देखकर उत्सुकता और जिज्ञासा होना सहज स्वाभाविक है। मगर उससे उपजी प्रतिक्रिया क्या वैसी ही होनी चाहिए, जैसे साँढ़ लाल कपड़े को देखकर भड़क जाता है? उनका तात्पर्य था कि नई स्थिति का पहले सुष्ठु अवलोकन करना चाहिए। बहुत सारे प्रश्नों का उत्तर तो मात्र अच्छी तरह चीज़ को देखते ही मिल जाता है। चीज़ों को जब हम उसकी संपूर्णता में देख चुके होते हैं, तब जो प्रश्न उठते हैं वे गंभीर होते हैं और अमूमन सृजनात्मक होते हैं। साँढ़ की तरह भड़ककर अगर प्रश्न किया जाए तो सुष्ठु अवलोकन की स्थिति ही नहीं उत्पन्न होती, वस्तु के भीतर प्रवेश भी बाधित हो जाता है, जबकि सृजनात्मक अवलोकन के लिए वस्तु में अंतर्प्रवेश का होना ज़रूरी है। ये सारी बातें बाबा कहते रहते।

बाबा ने एक योग्य गुरु की तरह ठोक-ठोक कर मुझे मनुष्य बनाया, इसमें उनका एक और सिद्धांत अक्सर प्रयोग में आता था। उसे 'विपरीत ध्रुव का सिद्धांत' कहा जा सकता है। यह सिद्धांत इतना लागू था, ख़ासतौर पर उनके साथ होने वाली बौद्धिक बहस के क्रम में अगर मैंने कह दिया 'आम' तो निश्चित रूप से मेरी बात को काटते वह 'इमली' कहते। नया-नया मैं प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ा था। दलित-भोग भोगने का मेरा अनुभव मेरे साथ था। प्रगतिशील आंदोलन से आत्मीयता अनुभव करता। आभास पाता कि मेरे दर्द के हमदर्द यहीं कहीं होना संभावित है। नई-नई व्याख्या। 'नए मियाँ जी कुछ ज़्यादा ही प्याज़ खाते हैं' की तर्ज पर, कुछ ज़्यादा ही वाचाल होकर प्रतिबद्धता के पक्ष में खड़ा होता। प्रतिबद्धता के बिना लेखक का कोई मूल्य नहीं है—मैं कहता। बाबा सरपट मेरी बात को काट देते—श्रेष्ठ लेखन के लिए प्रतिबद्धता कथमपि आवश्यक नहीं है। (उनका तात्पर्य होता, प्रतिबद्धता तो व्यक्तित्व में होनी चाहिए, केवल लेखन में हो तो क्या मूल्य?) मैं कलावादी समीक्षा-दृष्टि के ख़िलाफ़ खड़ा होता तो वे इसके पक्ष में बाइस तथ्य और तर्क देते।

मैं कहता कि संस्कृत साहित्य का अधिकांश गतिहत जीवन-दृष्टि का प्रवक्ता है, तो वह डाँटकर मुझे चुप कर देते। यह स्थिति यहाँ तक थी कि मान लीजिए अगर मैंने कहा कि बाबा, संघर्ष ही जीवन का नाम है तो वह कह उठते—बिल्कुल नहीं। जीवन का नाम आनंद है।

एक दिन मैंने थक-हारकर उनसे पूछा था, 'बाबा, मैंने तो आपसे ही सुनी बात के आधार पर, मार्क्सवादी चिंतन पद्धति के आधार पर अपनी धारणा बनायी है। मैं तो वही बात कहता हूँ जो कभी आपने ही कही थी, फिर भी आप मेरी बात को काट देते हैं। मुझे बहुत दु:ख होता है।

उस दिन बाबा ने जो उत्तर मुझे दिया था, वह कुछ इस प्रकार से था, 'मेरे कहने पर आपने धारणा बनायी, यही तो समस्या हुई। कोई शास्त्र आपको जीवन को समझने में थोड़े ही मदद करेगा! शास्त्र के अनुसार अगर वस्तु और स्थिति को देखिएगा तो फिसलकर गिरिएगा। जीवन गतिमान है, शास्त्र जड़। शास्त्र से दृष्टि ले सकते हैं मगर धारणा तो अपने अनुभव के आधार पर बनाइये।'

कितनी ही बार उनकी कही बातें परस्पर विरोधी होतीं। उनकी विरोधाभासी बातों की लंबी सूची बन सकती थी। जैसे शास्त्र को ही लिया जाए। कितनी ही बार वह शास्त्र को विधेय कहते, कितनी ही बार उसका निषेध करते। अब मुझे लगता है कि उन दिनों भी मैं तेज लड़का था। कभी मैं बात के प्रकरण में नहीं उलझता। सीधे उसके निहितार्थ में उतर जाता। बाबा कहना क्या चाहते हैं? मैसेज क्या है उनका? मुख्य बात यह नहीं थी कि वह शास्त्र के पक्ष या विपक्ष में खड़े हैं, असल बात यह थी कि वह हर समय जीवन के पक्ष में रहते। जीवन के प्रति संपूर्ण प्रतिबद्धता-संबद्धता-आबद्धता से परिपूर्ण। यह बात परंपरावादी प्रगतिशीलों की समझ से बाहर थी। नागार्जुन को वे लोग ढुलमुल, सिद्धांतहीन, अवसरवादी कहते। मूल समस्या यह थी कि ये लोग अधिकांशत: प्रकरण में ही उलझ कर रह जाते थे। निहितार्थ तक पहुँच ही नहीं सकते थे। मुझे उन लोगों की तरह राजनीति नहीं करनी थी। मुझे वस्तुत: जीवन के संरक्षण में खड़ा होना था। इस कारण वैसे भी उलझने की संभावना कम हो जाती थी। पता नहीं कैसे, उन दिनों यह बात मेरे संस्कार में बैठी थी कि अंधेरे को एक लाख गाली देने से अधिक श्रेयस्कर है एक दीप जलाना।

मैं ऐसी जगह से चलकर आया था, जहाँ से कोई पटना युनिवर्सिटी तक पहुँच पाने की कल्पना नहीं कर सकता था। पीछे कोई पृष्ठभूमि नहीं थी। परिस्थितियाँ इतनी

जटिल थीं कि जिसे भोगा ही जा सकता है, जिसके बारे में बात करो तो सामने वाला समझेगा कि रुपए-पैसे माँगने के लिए फंतासी रची जा रही है।

एक दिन मैंने अपनी सारी संघर्ष-कथाएँ बहुत विस्तारपूर्वक बाबा को सुनायीं। व्यग्र हो-होकर, विचलित स्वर में, मानो कि मैं अपनी संघर्ष-गाथा से बाबा को हिला देना चाहता था। बाबा ने बहुत ध्यान से मेरी कहानी सुनी। यह विरल बात थी क्योंकि बाबा बहुत ध्यान से बहुत देर तक किसी भी प्रसंग को नहीं सुन पाते थे। अधिकतर मैंने पाया कि जैसे ही प्रसंग लंबा होता जाता, बाबा ऊब जाते थे। ऊब जाते थे, यह कहना भी हर जगह सत्य नहीं था। अधिकतर यह होता था कि प्रसंग के बीच में किसी बात पर वह प्रतिक्रिया कर उठते थे। फिर अपनी व्याख्या रखने लगते थे। फिर उस व्याख्या से प्रसंगांतर जन्म लेता था। फिर प्रकृत प्रसंग छूट जाता था और बाबा दूसरी-दूसरी बातों पर बोलने लगते थे।

बाबा ने बहुत देर तक मेरी बातें ध्यानपूर्वक सुनीं, उसके पीछे दो कारण हो सकते थे, जैसे कि उनकी प्रकृति को देखते हुए मैं आकलन करता हूँ। एक तो यह संभव है कि मेरी कथा में वह अपनी अगली कविता का बीज खोजने लगे हों, कारण मैंने कई बार देखा था कि जीवन-संघर्ष में लगे लोगों से जब उनकी चर्चा होती थी तो वह उस चर्चा में से नया और ऊष्ण अनुभव चुन-छाँट लेते थे। और उस पर कविता लिखते थे। कितनी बार उन्होंने कहा भी था कि देहात के जिन लोगों से मेरी भेंट होती है, वे सब समझिए कच्चे माल के मेरे सप्लायर हैं।

दूसरी संभावना यह हो सकती थी कि मेरा संघर्ष, उन्हें अपने जीवन के प्रारंभिक संघर्ष की याद दिलाता हो। उनका वह समय जिसे वह नौजवानी के समय भोग चुके थे—संस्कृत विश्वविद्यालय, श्रीमंत लोगों का संवेदनाहीन आश्रय, काशी, परदेश और विदेश।

मेरी संपूर्ण कहानी सुन लेने के बाद बाबा बोले थे, 'तारा बाबू, आप ठीक ही बढ़ रहे हैं। यही प्रक्रिया है बढ़ने की। लेकिन एक बात मैं कहूँगा।'

'क्या बाबा?'—मैं बहुत उत्सुक होकर उनकी ओर देखने लगा।

'आप थोड़े मोहासक्त मालूम पड़ते हैं। क्यों मोह? किसका मोह? ढालते हैं लोहा, तो ढालते हैं लोहा।'

मैंने कहा, 'समझे नहीं बाबा! क्या मतलब?'

वह बोले थे, 'दुनिया में तो सबकी अपनी-अपनी गति होती है, रणनीति होती है कि नहीं! आपकी भी एक रणनीति है। आप भी बढ़े जा रहे हैं। कुछ लोग क्या करते हैं कि अपनी रणनीति को महिमामंडित करेंगे। मैं ऐसा, तो मैं वैसा। मैंने ये किया, वो किया। ऐसा करता हूँ, वैसा करता हूँ। बाघ मारता हूँ, साँप मारता हूँ।

एक बात समझते हैं? ऐसे लोग 'बिसुनबिलाड़' होते हैं।'

बस। यहीं बाबा रुक गए थे। भौंचक-सा मैं उनकी ओर देख रहा हूँ। बाबा भी मेरी ओर देखते हैं, मगर वह एकदम सहज और प्रकृतिस्थ हैं। अप्रिय सत्य बोलने के बाद जो तत्काल नज़र चुराने की प्रवृत्ति होती है वक्ता में, वह एकदम नहीं है उनके चेहरे पर। मैं मगर अचंभित हूँ। क्या मैं सुनना चाहता था उनसे और क्या वह कह गए! कितनी अद्‌भुत शॉक थैरेपी तकनीक थी यह उनकी! ये बातें क्या कोई दूसरा कह सकता था! मेरे साथ आत्मीयता का नाटक करने वालों की तो बात ही छोड़िए, अंतर्लय से मेरी संवेदना के प्रति साहचर्य रखने वाले भी क्या यह बात कह सकते थे? आजतक बाबा की यह दृष्टि अपने व्यक्तित्व में साध तो नहीं पाया हूँ, मगर लक्ष्य जैसे यही है। किसका लक्ष्य यह नहीं होगा?

इसके बाद अपने झोले से बाबा ने पैड निकाला था। कलम लेकर अपने हाथ से ही विवरण लिखने लगे थे कि तारानंद महाराज की समस्या के समाधान का रास्ता क्या-क्या है। बाबा की यह पुरानी आदत थी। किसी मसले पर अगर मंथन करते तो मोटी-मोटी बातें काग़ज़ पर उतारते जाते।

अंतत: विचार हुआ कि अर्थोपार्जन के थोड़े साधन आजमाए जाएँ। बाबा का कहना था कि मैं ट्यूशन नहीं करूँ। वह मुझे विपरीत चित्त-दशा में ले जाएगा। तब क्या करूँ? अख़बार में लिखूँ। रेडिया के लिए लिखूँ। लिखकर पैसे पैदा करने के दूसरे रास्ते भी ढूँढूँ। प्रेस में प्रूफ रीडिंग करूँ, वह भी ऐसे प्रेस का हो, जहाँ किताबें और पत्रिकाएँ छपती हों।

यही सब हुआ। उसी साल पटना से 'पाटलिपुत्र टाइम्स' निकलना शुरू हुआ था। उसमें अजय वर्मा थे। अवधेश प्रीत थे। ये दोनों व्यक्ति मेरे आत्मीय हुए। प्रेस के मैनेजर थे विकास जी। विकास जी से मेरा अच्छा परिचय था—नवतुरिया लेखक सम्मेलन से ही। मैंने उनसे कहा कि पार्ट टाईम जॉब दीजिए। उन्होंने कहा कि टेबुल देना तो संभव नहीं है, आप बाहर रहकर लिखिए। जो जो आप लिखिएगा वह सब छपेगा। और जितना अधिक से अधिक पारिश्रमिक मैं दे सकूँगा, दूँगा। सो मैं पाटलिपुत्र टाइम्स में ख़ूब लिखा। ख़ूब! केवल लेख और फीचर। राजकमल चौधरी पर एक बार पूरा पन्ना मैंने तैयार किया था। और कितनी ही बार, कितने ही विषयों पर पन्ना केंद्रित हुआ। इससे एक आधार तो मिला मगर वह थोड़ा था। और भी कई जतन किए गए, जिनसे तनाव कम हुआ और सक्रियता बढ़ी। 'कोशी कुसुम' का काम देखा, जिससे नकद पारिश्रमिक प्राप्त होता था।

मैथिली के प्रगतिशील लेखक बंधु, पटना निवासी, स्पष्ट रूप से दो धड़ों में बँटे थे। प्रगतिशील और उग्र प्रगतिशील। पुरातनपंथी लोगों का कोई अखाड़ा पटना में नहीं था। अखाड़ा प्रगतिशील लोगों के इन दोनों धड़ों का ज़रूर था। इसमें भी अगर साफ़–साफ़ दो धड़ों का दो अखाड़ा कहा जाय, वह नहीं था। उग्र प्रगतिशील लोग तो बहुत हद तक साथ थे। खालिस प्रगतिशील लोगों के साथ तो 'तीन तिरहुतिया, तेरह पाक' पूर्णतः लागू होता था। वे निहित स्वार्थ और संबंधबंध के आधार पर अपना पक्ष–निर्धारण किया करते थे। प्रगतिशील लेखक लोगों में जो महंथी का दावा करते थे, उनकी सभी गतिविधियाँ किसी न किसी रूप में पुरातनपंथियों की इंगित पर, धमकी पर निर्धारित होती थीं, कारण, साहित्य अकादमी इत्यादि और विश्वविद्यालयादि इन लोगों के ही क़ब्ज़े में था। उग्र प्रगतिशील लोग गाली बकना और आरोप लगाना, झगड़ा करना आदि अपना प्रधान कर्म बनाये हुए थे। मैं इनमें से कहीं भी नहीं था। मेरी कोई औकात नहीं थी, यह तो मानने लायक़ बात थी, मगर कितना भी ज़ोर देकर मैं कोई तथ्य रखता तो उसका कोई प्रभाव नहीं बनता था। मैथिली में लिखता था मगर पूरी परिस्थिति ऐसी थी कि मैं अपने को मैथिली में 'आउटसाइडर' अनुभव करता। इसका एक कारण यह हो सकता था कि अपने अंतर्लय में मैं कहीं एक सूक्ष्म प्रकार के हीनताबोध से ग्रस्त था, मगर यह बात प्रमाणित नहीं होती थी। मैं उन दिनों परम आत्मविश्वासपूर्वक नवीन प्रयोगों में, दिशा–संधानों में लगा रहता था। तब मुझे यही लगता है कि तरजीह नहीं देना अथवा यह कहा जाए कि तरजीह देना तो थोड़ी बड़ी बात हुई, इसके बदले अवज्ञापूर्वक मेरे कहे–लिखे को अनसुना (अश्रुत इव) करना मैथिली के प्रसिद्ध लेखकों की इस प्रवृत्ति का द्योतक था, जिसके अनुसार किसी नए लेखक का स्टेटस चेला–चपाटी से अधिक हो ही नहीं सकता है। मूल बात यह नहीं थी कि कोई नया लेखक क्या लिख रहा है, मूल बात यह थी कि वह किसका चेला है और, मैं इधर बचपन से ही ऐसा टेढ़ा था कि गुरु बनाने योग्य आदमी मुझे मिलना मुश्किल था और इसीलिए मैं किसी का चेला नहीं बन सकता था। सो रचना तो मैं बहुत लिख गया था—ग़ज़ल से लेकर लघुकथा और निबंध तक। मगर मेरी ओर लेखकों का ध्यान पहली बार तब आकृष्ट हुआ जब मेरे दृष्टिकोण से संपादित होकर 'कोशी कसुम' के कुछ विशेषांक सामने आये। क्यों ध्यान इधर गया? इसका भी कारण था। अच्छी पत्रिका निकालना और प्रखर संपादकीय दृष्टि का दावा करना कुछ लोगों की बपौती में पड़ता था। 'कोशी कसुम' जब निकला तो लोगों ने इसे ध्यान न देने योग्य बकवास के रूप में लिया। मगर अगला अंक देखकर थोड़ा अचंभा हुआ होगा बहुत से लोगों को। पत्रिका में

मेरा नाम कहीं संपादक-मंडल में शामिल नहीं था क्योंकि घोषित रूप से यह स्त्रीगणमंडल की पत्रिका थी, मगर यह पता लगाना कठिन नहीं था कि मैं उसमें काम कर रहा हूँ।

याद आता है तो हँसी लगती है। अब भी हँसी आती है। रातोरात मैं चर्चित हो गया था और यह चर्चा किस रूप में? कोई कहता—वियोगी होनहार था। उसे इस तरह भ्रष्ट नहीं होना चाहिए था। कोई कहते—और करेगा क्या? इसी लायक़ तो वह था। मगर, सब के सब मेरी फजीहत करते। कुछ तो मुँह पर भी। मगर पीठ पीछे तो सभी! मैं मलिन, पतित और पथभ्रष्ट के रूप में चर्चा में था। चर्चा इस बात की थी कि सत्ता की गुफा में मैं घुस गया हूँ और मुझसे जो कुछ मिलने की संभावना हो सकती थी मैथिली को, वह गर्भ में ही मर गई। उन दिनों मैं मैथिली के लेखकों से ऑटोग्राफ लेने का शौक रखता था। ये मेरे निजी ऑटोग्राफ बाद में 'कुसुम' में छपे भी थे, 'हिनका तँ यैह कहबाक छनि जे' कॉलम बनाकर। तो इसी ऑटोग्राफ बुक में मैथिली के एक प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक ने लिखा—आप जिस पत्रिका के संपादन से जुड़े हैं वह आपके व्यक्तित्व से भिन्न नहीं है।

अब यह बात भी नहीं थी कि अपने आर्थिक कष्ट का पक्ष उनके सामने मैंने नहीं रखा। ख़ूब रखा। मगर इन लोगों का वश चला होता तो प्रेस का प्रूफ तक मुझे नहीं मिलता। यह उनलोगों के अथवा उनके शरणार्थी चेले-चपाटियों को मिलता। उनलोगों की सम्मति कुछ इस आशय की होती—बहुत आर्थिक कष्ट में हैं तो छोड़ दीजिए पटना, गाँव लौट जाइए मगर आप सत्ता की दलाली करिएगा? रेडियो अधिकारी के पीछे-पीछे घूमिएगा; यह नहीं होगा।

यह मेरे लिए दारुण कष्ट था। ये लोग मेरे अपने ख़ास लोग थे। यही मेरा अपना समाज था। मेरे सपने में जो आत्मीय वर्ग का तब चित्र उभरता, वह प्रगतिशील साहित्यकारों के ही चित्र हुआ करते थे। वे लोग भले ही मुझे तरजीह नहीं दें, मान लूँगा मैं तरजीह पाने के योग्य नहीं हूँ, मगर रहूँगा उनके ही साथ। प्रगतिशील लेखकों के प्रति यह मेरी धारणा थी। मगर यह सार्वजनिक 'लू-लू, थू-थू' अभियान जब चला, मैं बहुत भयानक तरीक़े से तनावग्रस्त हो गया। बाबा से एक दिन बात होने लगी तो सारी बातें उनसे कहीं। मेरे चिंता-विचार सुनकर बाबा लगभग हँसने लगे, 'वो कविता आपने पढ़ी है तारा बाबू! जोड़ा मंदिर वाली।'

मैंने कहा, 'जी बाबा, वह तो मेरी प्रिय कविता है।'

'क्या है उसकी अंतिम लाइन?'

कविता की अंतिम पंक्ति तब मुझे याद नहीं थी। किताब लायी गई, मैंने अंतिम प्रसंग पढ़ा—

फिर मेरी नज़रों की थाह लेता बोला सरजुग—
कनफुस्की आवाज़ में!
तरौनी गाँव के बाबू भैया लोग
हँसी उड़ाते हैं मेरी
इस पर कहा मैंने सरजुग से
धत! मरदे, यह भी कोई बोले
पता नहीं है तुम्हें
तरौनी गाँव के बाबू भैया लोग
हँसी उड़ाते हैं मेरी भी।

कविता सुनकर बाबा बोले, 'तो, यही समझिए।'

बात मैं समझ गया मगर समाधान नहीं मिला। मैंने पूछा, 'बाबा, सरजुग की जो हँसी उड़ाते हैं वे सब बाबू-भैया लोग हैं। आपकी भी हँसी उड़ाने वाले वही लोग हैं। मगर मेरी हँसी तो प्रगतिशील लोग उड़ा रहे हैं।'

बाबा पूछ बैठे, 'तो ये सब बाबू भैया नहीं हैं?'

मैंने कहा, 'मेरी समझ से तो नहीं। वहाँ तो आपने ब्राह्मणवादी-सामंतवादी सोच रखने वाले की बात की है और ये सब तो प्रगतिशील...'

बाबा बोले, 'बहुत अच्छा, नहीं हुए। मगर आप प्रमाणित कीजिए कि कैसे नहीं हुए'—चौकी पर पालथी मारकर बैठे बाबा हाथ चमकाकर बोले। वह शास्त्रार्थ की मुद्रा में आ गए थे।

उनकी वह मुद्रा मैंने देखी तो मेरे भीतर का ब्रह्म चमक उठा—ओह! यह बात कहना चाहते हैं बाबा! कोई अंतर नहीं? वह भी फूले यह भी। वह भी फले यह भी! कोई अंतर नहीं! प्रसंग का समापन करते हुए मैंने कहा, 'बाबा मैं समझ गया, वाकई कोई अंतर नहीं। संघर्ष बचा कहाँ इनके जीवन में? और बाबा, अगर संघर्ष दिखता भी है इनके जीवन में तो वही 'वे और तुम' वाला संघर्ष!'

फिर बड़ी देर तक बाबा प्रगतिशील चरित्र की खाल खींचते रहे। समझ लीजिए कि उस दिन प्रगतिशील आंदोलन के कृष्ण पक्ष पर एक कम्प्लीट क्लास चला, कोचिंग इंस्टीच्यूट में। क्यों बाबा ने कम्युनिष्ट पार्टी की सदस्यता छोड़ी यह प्रसंग, क्यों चीन के विरुद्ध कविता लिखी! क्यों राष्ट्रीय मार्क्सवाद की अवधारणा को वह एक मात्र उचित रास्ता मानते हैं।

बाबा कहने लगे, 'जानते हैं तारा बाबू, ये मुझे गालियाँ देते हैं—साला बूढ़ा सठिया गया है। पगलेट है, बिन पेंदी का लोटा है, सूप का बैगन है। क्यों भाई? मैं तुम्हें प्रमाण नहीं मानता इसीलिए न! क्यों मानूँ? जनता को प्रमाण मानूँ या तुम्हें? मैं तो भई जनता का आदमी हूँ और तुम मुझे दलाल का आदमी बनाना चाहते हो? और तुम प्रगतिशील हो? काहे का प्रगतिशील जी? हाथी की लीद हो तुम सब। गाँड़ से गिरोगे तो जाने कितने सूक्ष्म जीव दबकर मर जाएँगे।'

बहुत देर तक क्लास चला। तब बाबा अपनी ओर से प्रसंग का समापन करते हुए बोले, 'युवा पीढ़ी जो है, वह ख़ूब चिंता-विचार करती है, यह ठीक बात है। मगर तारा बाबू, कौन सी बात चिंता करने के योग्य, कौन सी अयोग्य—इसका एक ट्रेनिंग कैम्प होना चाहिए। है कि नहीं? हमलोग एक सूची बनाएँ। व्यक्तिगत, सामाजिक, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय—पाँच अध्याय रखा जाए। प्रत्येक अध्याय में पाँच-पाँच उप अध्याय हों। प्रत्येक उप अध्याय में एक-एक सौ चिंतनीय विषय की सूची हो, कैसा रहेगा?'

इसपर मैं उनको क्या कहता। मैं तो बात की जड़ में घुस गया था। इतनी बात वह मुझे क्यों कह रहे हैं। जो बात चिंता-योग्य नहीं, उसपर भी मैं चिंता कर रहा हूँ और व्यर्थ तनाव रच रहा हूँ।

यह संस्कार मेरा पहले से भी था। जो चिंतनीय नहीं उसकी चिंता न की जाय। मगर चिंतनीय क्या नहीं? मेरी जो सूची थी उसमें बहुत सारी बातों का समावेश था। मेरे गाँव के बाबू-भैया जो कहते हैं, मेरी जात-बिरादरी जो कहती है, वह मेरे लिए चिंतनीय पहले से ही नहीं था। मगर उस दिन बाबा से बातचीत करते हुए मेरी यह सूची लंबी हो गई। बात तो मैं भी समझता ही था कि प्रगतिशीलता की चादर तले लोग क्या-क्या करते हैं। प्रगतिशीलता उसकी देह में कितना प्रतिशत है और ब्राह्मणवाद-साम्यवाद कितना प्रतिशत है—इसका ज्ञान तो कमोबेश मुझे था, मगर साहस नहीं था और बाबा अमोघ साहस के सम्राट थे। साहस पैदा करने की प्रक्रिया भी मैंने बाबा से सीखी। प्रत्युत्पन्नमतिपूर्वक किस कोण से स्थिति को देखा जाए कि वह अधिक से अधिक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सके। शायद साहस का जन्म हमेशा प्रतिक्रिया के गर्भ से होता है।

दूसरे दिन तक प्राय: बाबा की स्मृति में मेरा यह प्रसंग उमड़ता-घुमड़ता रहा होगा। दूसरे दिन जब मुलाक़ात हुई तो बाबा बोले, 'तारा बाबू, साहित्यिक लोगों को एक और काम करना चाहिए, श्रीमन्त लोगों को सद्‌बुद्धि दीजिए, उसको प्रेरित कीजिए कि वह साहित्यिक काम करें। प्रकाशन आदि में पैसे लगाएँ। यश उसे मिलेगा, काम साहित्य का होगा।'

उनका आशय अम्बिका मिश्र के प्रति रहा होगा, जो बलुआ-परिवार की सम्भ्रांत महिला थीं और 'कोशी कुसुम' की संपादिका थीं।

1985-86 का अधिकांश समय बाबा ने पटने में ही बिताया। उस समय बाबा का मन बिहार में रम गया था। यह एक दुर्लभ बात थी। जैसा कि मुझे याद आता है बीच-बीच में तीन अथवा चार बार वह थोड़े-थोड़े दिन के लिए पटना से बाहर गए। कम-से-कम एक बार तो वह उस साल गाँव (तरौनी) भी गए थे। गाँव से लौटे थे तो शोभाकांत जी उनके साथ आए थे। शोभा भाई से वही मेरी पहली मुलाक़ात थी। एकदम अपने-जैसे लगे थे। विधेयात्मक ऊर्जा और उत्साह उनके भीतर हिलोर लेता-सा लगा। 1985 की गरमी में मास डेढ़ मास के लिए बाबा विदिशा होते हुए जहरीखाल (हिमालय) भी गए थे। हरिहर जी बाबा को छोड़ने के लिए बनारस तक गए थे। विदिशा के डॉक्टर विजय बहादुर सिंह और जहरीखाल के डॉक्टर वाचस्पति की चर्चा वह बराबर करते। ये दोनों उनके प्रिय व्यक्तियों में से थे।

पटना में जब बाबा थे, वह अधिकांशतः शाम के वक़्त घूमने निकलते। निकलते तो किताबों की दुकानों पर ज़रूर जाते। ख़ासतौर पर राजकमल प्रकाशन और पी.पी.एच.। किताबें ख़रीदने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। किताबें ख़रीदते वक़्त जिस किसी किताब पर नज़र पड़ती और उसे उलटने का अगर उत्साह होता तो उसे वह ख़रीद ही लिया करते थे। उनको तो मैंने अमरकोश, रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धांत और कालिदास रचनावली तक ख़रीदते देखा है। किताब ख़रीद लेते। मैग्नीफाइंग ग्लास से थोड़े पन्ने ख़ुद पढ़ते, थोड़े पन्ने मुझसे पढ़ाकर सुनते और उसके बाद वह किताब किसी-न-किसी को दे देते। अधिकांश किताबें मुझे मिलती थीं। कई बार बाबा कोई किताब देखते तो मुझसे पूछते, 'तारा बाबू, यह पुस्तक आपने पढ़ी है? अगर मैं कहता 'नहीं' तो वह पुस्तक भी ख़रीद लेते थे और उसकी विशिष्टता बताते हुए मुझे सौंप दिया करते। ऐसी अनेक किताबें आज मेरी अमूल्य संपत्ति हैं। आज सोचता हूँ तो अद्भुत लगता है। बाबा को यह भरोसा था कि भरपेट भोजन पाने योग्य पैसे तो मैं पटना में अर्जित कर ही लूँगा, तब मेरी सबसे ज़रूरी सहायता यही की जा सकती थी कि ऐसी किताबें जो मैं पैसे से ख़रीदने की सामर्थ्य नहीं रखता हूँ' मेरे लिए ख़रीद ली जाए।

किताब ख़रीदने की बात चली तो मुझे वह भयानक प्रसंग याद आता है। भयानक प्रसंग इसे मैं इस वजह से कहता हूँ कि एक ही बार, एक ही समय में,

मैं और बाबा, दोनों ही दोनों पर क्रोधित हो गए थे। मेरे लिए तो यह दारुण था। यह प्रसंग बहुत दिनों बाद तक मुझे मथित किए रहा और बात यह भी कि बाद को इसने मेरी अनेक क्षुद्रताओं को धोकर हटाया। यह बात मैं पहले भी कह चुका हूँ कि बाबा का जो गुरु-रूप था उसमें डाँट-फटकार, व्यंग्य-फजीहत, अपमान और अवमानना एक आवश्यक उपकरण की तरह था। सार्वजनिक स्थल पर भी बाबा मेरी ग़लती के लिए मुझे बेवकूफ़ बना सकते थे। मेरे लिए यह सार्वजनिक अपमान की तरह हो सकता था, मगर बाबा के लिए तो यह साधारण बात थी। व्यक्तिगत और सामाजिक जैसा कोटि-क्रम सामान्यतया उनके व्यवहार में नहीं पाया जाता था।

दूसरे, बाबा का जो क्रोध था वह विचित्र था। वेग जब चढ़ता तो वह दुनिया के किसी भी शामक तत्व की पहुँच से बाहर हो जाता था। क्रोध की अवस्था में उन्हें समझाया-बुझाया नहीं जा सकता था। उस वक़्त वह 'वन-वे' हो जाते थे। सामने खड़े व्यक्ति से उनका संपूर्ण संवाद उस थोड़ी देर के लिए टूट जाता था। कोई स्पष्टीकरण उन्हें मंजूर नहीं होता था, कोई बहाना नहीं, कोई क्षमा-याचना तक नहीं, अगर वह शब्द में व्यक्त की गई हो। हाँ, अगर चुप हो जाएँ और आपकी क्षमा-याचना मौन में अभिव्यक्त हो रही हो आपकी आकृति से तो बाबा को अपेक्षाकृत जल्दी प्रकृतिस्थ किया जा सकता था। सारे गुर मुझे मालूम थे। ऐसे अनेक अवसरों को मैंने बहुत बुद्धिमानी-पूर्वक संभाला था, तब भी जब बाबा मुझ पर गुस्साते, तब भी जब बाबा किसी और पर गुस्साते, अगर मैं वहाँ होता।

मगर उस दिन भवितव्य ही कुछ और था। बाबा मेरे साथ निकले। राजकमल प्रकाशन पहुँचे। बाबा को पैसे की ज़रूरत थी। उन्होंने सत्येंद्र जी से कहा—मुझे तीन सहस्त्र मुद्राएँ दीजिये। सत्येंद्र जी ने उन्हें तीन हज़ार रुपए दिए। वहाँ उन्होंने थोड़ी किताबें ख़रीदीं। वहाँ से पी.पी.एच. पहुँचे। पी.पी.एच. में रूस से बहुत सारे नवीन प्रकाशन उस साल आए थे। बाबा के पास पैसे भी पर्याप्त थे। बाबा ने बहुत सारी किताबें ख़रीदीं। सात-आठ किताबें उन्होंने मेरे लिए भी ख़रीदी होंगी। किताबें बहुत हो गईं, सो जब पैकिंग होने लगी तो बाबा ने कहा—दो पैकेट बना दीजिए। दो पैकेट बना दिए गए। एक पैकेट बड़ा और भारी था। और दूसरा उससे थोड़ा कम। हमलोगों को उस जगह से महेंद्रू सुल्तानगंज तक टेम्पू से आना था। पैकिंग हो रहा था कि तभी कोई सज्जन आ गए। याद नहीं आता कि वह कौन थे। बाबा उनके साथ बात करने लगे। पैकिंग वाले से मैंने कहा कि अब आप दोनों पैकेट को एक जगह बांध दीजिए, जिससे ले जाने में सुविधा हो। उसने वही किया, दोनों पैकेटों पर कवर लगाकर बांध दिया गया।

बाबा उस सज्जन से मुक्त हुए। मैंने बाबा का झोला और किताबों का पैकेट उठाया। टेम्पू रोका गया। पीछे सीट मिली। दोनों बैठे। गाड़ी आगे बढ़ी। महेन्द्रू मुहल्ला पार करते-करते प्राय: बाबा की नज़र किताबों की पैकेट पर गई। उन्होंने मुझसे कहा एक ही पैकेट है! और दूसरा? मैंने कहा—दूसरा भी है बाबा! बाबा निश्चिंत हो गए। टेम्पू से जब भागीरथी लेन के मोड़ पर हम उतरे तो बाबा की नज़र किताबों के पैकेट पर गई। पैकेट एक ही था। बाबा ने यह भी नहीं देखा था कि मैंने दोनों पैकेट को एक ही साथ बंधवा लिया था। बस! बाबा बिगड़ गए। सीधे बिगड़ गए, बिना किसी भूमिका के, 'आप बेहूदे हैं, गधे हैं, बेवकूफ़ हैं, कोई समझ नहीं है। छूट गया एक पैकेट वहीं। ऐसा लापरवाह आदमी मैंने कहीं नहीं देखा। गिदराभकोल हैं आप। वंशबुड़ावन हैं, फटकचंद हैं।' शैली बाबा की देखी जाय 'बेहूदा' से 'वंशबुड़ावन' तक तो हैं, लेकिन 'आप' हैं।

मैंने कहा, 'आप काहे को चिंता करते हैं बाबा! हैं न! दोनों हैं।'

बस यही क्षण था, जब उनका दुर्वासा विस्फोट कर गया। मैंने यह क्यों कह दिया कि 'आप काहे को चिंता करते हैं'? तो आप मुझे चिंता करने से रोकिएगा? मैं चिंता भी न करूँ, साहब मेरा पैसा लगा है, आपके बाप का, दादा का, नाना का नहीं लगा है। मूर्खाधिराज हैं आप और मुझे कहिएगा कि काहे की चिंता?'

मैंने कहा, 'हद हो गई बाबा। आप बेकार ही मुझे गाली दिए जा रहे हैं। मैं कह रहा हूँ न कि दोनों हैं। इसी में हैं। चलिए, डेरे पर चलकर दिखलाता हूँ।'

मेरी इस बात से बाबा का क्रोध और भड़क उठा। असल में मामला संभालने में मुझ से ही ग़लती हो गई थी। मुझे क्षमायाचना की मुद्रा में बात रखनी थी, मैंने प्रतिवाद की मुद्रा में बात रखी थी।

और क्रोध का चरमोत्कर्ष ऐसे व्यक्त हुआ कि अपने दाहिने हाथ को खींच के उन्होंने मेरे बाँयें गाल पर सटाक से थप्पड़ मारा। जुलुम थप्पड़ था वह। उस थप्पड़ में बुढ़ापे का शैथिल्य नहीं था। ज़रा-सा भी नहीं लगा जैसे वह 75वें में मारा गया थप्पड़ हो। उस थप्पड़ को खाकर मारने वाले की देह की तारीफ की जा सकती थी, इतनी ज़ोर से चोट लगी मुझे कि मैं तड़प उठा। और मुझे भी क्रोध आ गया। कहा तो नहीं मैंने उतनी बात, मगर मुझे साफ़-साफ़ लगा कि यह भी एक प्रकार का सामंतवाद ही हुआ न भाई! आप नागार्जुन हैं तो अपने घर में रहिए, यह कौन तरीक़ा हुआ? इतना भी विश्वास आप नहीं रखेंगे? मैं आपकी सेवा करता हूँ, रात-दिन अपके साथ रहता हूँ, इतना भी भरोसा नहीं मुझपर? यह भी तो सीधे-सीधे अत्याचार ही हुआ!

चुपचाप मैं उनके साथ हरिहर जी के डेरे पर आया। भीतर से तो समझिए कि मैं खौल रहा था। आँखों में आँसू भरे थे, सो अलग। वे आँसू आत्मग्लानि के आँसू थे। तो मेरी यह दुर्दशा कि इस तरह से अपमानित हो रहा हूँ। यह दृष्टि आत्मकेंद्रित दृष्टि थी।

हरिहर जी के डेरे पर आक्रोश में भरा मैंने पहला काम तो यह किया कि पैकेट को खोला। उसके भीतर से दोनों पैकेट बाहर कर मैंने उनके आगे पटक दिया। मुझे देखकर कोई भी समझ सकता था कि मैं भारी क्रोध और आक्रोश में हूँ। पैकेट रखकर मैंने बाबा के पैर छूए। वह पाँव छूना प्रतीकात्मक था। बस। आज से मेरा-आपका सारा संबंध ख़त्म। आप अपने घर, मैं अपने घर।

उनके पाँव छूने को मैं झुका कि उन्होंने हुलसकर मुझे छाती से लगा लिया। हरिहर जी ऑफ़िस से लौट आए थे। बाबा ने उन्हें बुलाया। बाबा उनसे कहने लगे, 'देखिए-देखिए हरिहर बाबू, तारकानंद स्वामी आज रूठ गए हैं।' और वह मेरा गाल छूकर, सर सहलाकर, दुलार करने लगे। हरिहर जी भी उपचार में सहयोग करने लगे, 'अपने ये तारानंद जी आदमी बहुत अच्छे हैं। और जानते हैं बाबा, इधर भी इन्होंने बहुत अच्छी-अच्छी कविताएँ लिखी हैं। आपको सुनाये कि नहीं?'

मैं विदा होने लगा तो हरिहर जी बोले, 'एक कप चाय हो जाय, तब जाइएगा।' वह भी हुआ। मैं डेरा लौट आया।

दूसरे दिन सुबह-सुबह बाबा मेरे डेरे पर धमक आए। इस स्थिति में अब तो मुझे क्रोध पर ग्लानि ही हो सकती थी। उस दिन जो बाबा मेरे डेरे पर आए—यहाँ मुझे एक और बात याद आती है।

मेरे जो मकान मालिक थे, मिथिलेश कुमार वर्मा, उनका ब्याह हाल ही में हुआ था। उनकी पत्नी प्रायः मेरी समवयस्का रही होंगी। वह बहुत विशालकाय, बहुत मोटी थीं। उतनी मोटी स्त्री-प्राणी आपने बहुत कम जगह ही देखी होगी। उनके मोटापे के आगे समझिए कि प्रभास जी भी कम ही थे। सो बाबा जब मेरे डेरे पर आते तो आने-जाने के क्रम में किसी-न-किसी तरह वह महिला बाबा को मिल ही जाती थीं। सो बाबा की वह मुद्रा मुझे याद आती है। वह क्या करते कि लाठी-समेत अपने दोनों हाथ ऊपर उठाते। प्रणाम की मुद्रा में दोनों हाथ जोड़ते और कहते 'नमस्कार'। शुरू-शुरू में तो वह महिला लजा जाती थीं, मगर आगे चलकर हँस दिया करती थीं। देवशंकर नवीन को यह दृश्य बहुत पसंद था—बाबा का प्रणाम करना और महिला का हँस देना।

सो उस दिन जब मैं बाबा को विदा करने के लिए बाहर निकला तो वह महिला

सामने में ही मिल गईं। बाबा ने जैसे ही हाथ जोड़ते हुए नमस्कार कहा—वह महिला हँसते-मुस्कुराते हुए पीछे घूमकर भाग गईं। उतनी 'मोटसोंट' काया का इस तरह 'लत्तम-पत्तम' भागना, वह भी आनंद में, लज्जातिरेक में, हमलोगों को भी हँसी आ गई। बाबा भी हँसने लगे। उस प्रसंग का समापन यहाँ आकर इस तरह हुआ।

सो, बाद में जब बाबा पटना से चले गए और मैं उसी डेरे में बना रहा तो याद आता है कि उस महिला ने कितनी ही बार मुझसे पूछा होगा, 'अब आपके बाबा नहीं आते हैं?' अद्‌भुत संबंध था उस महिला का बाबा से!

प्रगतिशील लोगों के बारे में मैंने ऊपर थोड़ी बात लिखी है। कुछ और बातें इस जगह याद आती हैं, जिनके साथ बाबा का संदर्भ जुड़ा है। बाबा के साथ रहकर साक्षात रूप में मैंने यह देखा कि वह भारतीय संदर्भ में आधुनिकता-बोध और प्रगतिशीलता की साक्षात प्रतिमूर्ति थे। साक्षात प्रतिमूर्ति मैं इस अर्थ में कहता हूँ कि अनजाने में भी वह अनाधुनिक और प्रगतिविरुद्ध नहीं हो सकते थे। जीवन और धरती, ये जो दो विषय रहे हैं साहित्यकारों के पास युग-युग से विचारणार्थ, सो इन दोनों के प्रति उनकी आबद्धता, संबद्धता और प्रतिबद्धता अचूक थी। स्थिति को वह आम जीवन के कोण से, धरती के कोण से देखते थे। यह कोण प्राप्त करना एक दुर्लभ घटना थी जो कि उनके साथ घटित हुई।

दूसरी बात यह कि वह बहुत शिखर कोटि के प्रतिभाशाली थे। प्रतिभा से इस जगह मेरा अर्थ शुद्ध भारतीय परंपरा की प्रतिभा से है, जहाँ इसकी परिभाषा दी गई है, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' अर्थात् सदैव नव-नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है। सदैव नव नव उन्मेष का इतना प्रवाह होता है प्रतिभाशाली को कि पुराने उन्मेष के प्रति आत्ममुग्ध होने की उसे फ़ुर्सत ही कहाँ रहती है। और जिस कोण से मैंने देखा है किसी एक चीज़ को, उसी कोण से क्या दूसरी चीज़ें नहीं देखी जा सकती हैं? या कि क्या यह ज़रूरी है कि किसी एक चीज़ को जिस कोण से देखकर हम किसी ख़ास धारणा पर पहुँचते हैं, उसी को मान लें कि जीवन-जगत को देखने की वही एकमात्र सही दृष्टि है और वही अवधारणा ठीक है! एक चीज़ को देखकर हज़ारों चीज़ों के संबंध में निर्णय—क्या वैज्ञानिक और आधुनिक और प्रगतिशील बात कहीं जाएगी?

प्रगतिशील लोगों की औकात यहाँ आकर ख़त्म हो जाती थी। अपना-अपना

आसन लोग बनाते थे और उस पर जाकर बैठ जाते। निश्चिंत होकर पूरा जन्म अब उन्हें उसी आसन पर बैठे रहना होता था और अपनी धारणा का पिष्टपेषण, चर्वित-चर्वण करते रहना होता था। यह बात तो मैंने प्रतिभाशाली लेखकों के बारे में कही, जो कि तायदाद में बहुत ही कम थे। अधिकांश तो ऐसे लोगों की संख्या थी जिनको अपने लिए आसन बनाने का नुस्खा भी नहीं आता था, जिसके लिए कौशल और साधना, दोनों की ज़रूरत होती है। वह निकलते और पार्टी-ऑफ़िस से एक आसन ले आते थे। पार्टी ऑफ़िस में भी मगर भारत में बनाया आसन नहीं मिलता था, वह विदेशी माल होता था।

बाबा तात्विक रूप से ही इन सबसे अलग थे, यह मुझे प्रतीत होता है। उनका गुणधर्म ही अलग था। हज़ार तरह की चीज़ें उन्होंने देखीं थीं इनमें से दो-चार चीज़ें आंदोलनकारियों की भी देखी थीं। इन दो-चार चीज़ों के संबंध में आंदोलनी लोगों की निष्पत्ति बाबा की निष्पत्ति से मेल खाती थी। बाबा की दो-चार निष्पत्तियाँ ज़्यादा प्रचलित हुईं, कारण आंदोलनी लोगों के अपने मठ थे, अपना राज्याश्रय था, अपने सामर्थ्यवान माता-पिता थे। बाबा को उन लोगों ने उचित ही अपनाया। बड़े लोगों को कौन नहीं अपने कुटुम्ब में शामिल करेगा? दुनिया की रीति है। नौजवानी में महाभिनिष्क्रमण कर चुके उस भिक्षु नागार्जुन के लिए सौ संभावनाएँ थीं कि इस माया में वह फँस जाते। कुछ में तो वे फँसे भी, मगर सुयोग समझा जाए कि उनके भीतर जो तितीर्षा थी—उस नागा बाबा वाली अमोघ तितीर्षा, वह उन्हें सदा याद रही। याद ही नहीं रही अपितु इसी ने उनकी रक्षा भी की। बहुत अच्छी एक उक्ति है भारतीय परंपरा में कि 'धर्मों रक्षति रक्षितः' यही उनके साथ हुआ। पहले इन्होंने उसे बचाया, बाद में उसी ने इनको बचाया।

इसीलिए जो लोग आंदोलनकर्मी के रूप में बाबा को 'प्रगतिशील' कहते हैं, वे लोग निहित स्वार्थवश इस बात को भूल जाते हैं कि इसके अतिरिक्त और एक हज़ार चीज़ बाबा थे। हाँ, सुच्चे संदर्भ में, संपूर्ण विराटता के अर्थ को व्यंजित करते हुए यदि उनको प्रगतिशील कहा जाए तो कदाचित यही एक शब्द उनके व्यक्तित्व को रेखांकित कर सकेगा। मगर ऐसा कौन कहता है? तब तो और कोई कहने की कल्पना तक नहीं कर सकता था। कारण, अगर बाबा प्रगतिशील हैं तो इतने-इतने आसनधारी क्या हैं? तो, यह ख़तरा था। यह बात तो प्रगतिशील लोगों को बहुत अच्छी लगती थी कि बाबा सामंतों के ख़िलाफ़ कविताएँ लिखते हैं। शोषक के विरुद्ध, पंडा-पुरोहित के विरुद्ध, पद-लोलुप राजनेता के विरुद्ध। यह सब कुछ अतिसुन्दर। वाह बाबा, वाह! धन्य बाबा, धन्य! मगर उन्हीं बाबा ने चीनी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़

लिखा तो पूरे देश के प्रगतिशीलों का चेहरा लटक गया। पूरा देश चीनी आक्रमण के विरुद्ध है। एक-एक भारतीय, सेना के साथ है। पूरा देश अपमानित अनुभव कर रहा है ख़ुद को। चीनी आक्रमण से एक-एक भारतीय आहत हुआ है। मगर, भारतीय जनता का एक प्रतिभाशाली कवि जब भारतीय जनता की इस भावना को स्वर देता है तो ये प्रगतिशील उसके विरुद्ध हो जाते हैं। बाबा जब सामंतों के ख़िलाफ़ थे, तो ठीक थे मगर वह चीनी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ हुए तो खराब हो गए। हद बात थी!

बाबा ने ख़ुद मुझसे कहा था कि जब वह इन्दिरा गांधी की इमरजेंसी के ख़िलाफ़ खड़े हुए थे, तो तमाम प्रगतिशीलों को लगा था कि 'साला बूढ़ा' सठिया गया है, 'अनुशासन पर्व' का विरोध कर रहा है। असल में यह बात आंदोलनी लोगों की समझ से बाहर थी कि कोई प्रगतिशील पोलित ब्यूरो के निर्णय से बाहर कैसे जा सकता है! और जब उसी बाबा ने संपूर्ण क्रांति के विरोध में कविता लिखी तो प्रगतिशीलों ने इस बात को उनके सठिया जाने के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया।

नहीं। यह बात कठिन थी। बल्कि कहा जाना चाहिए कि असंभव थी कि बाबा को इस खेमे का दृष्टिकोण लेकर सही-सही पहचान लिया जाता। और इसलिए यह भी सहज संभव हो सका था कि हरेक व्यक्ति, उनके समक्ष आने वाला हर आम आदमी उनको अपने पास, अपने साथ पाता था।

और इन प्रगतिशील लोगों ने ख़ूब संभलकर जब बाबा पर प्रहार किया, अपने हिसाब से ख़ूब उचित समय जानकर विषवमन किया तो वह 1985 का ही जमाना था। और स्थान वही पटना था। बाबा का अपना पटना, जहाँ उनके जीवन के एक से एक जीवंत अध्याय घटित हुए थे। 'दिशा' नाम की एक लघुपत्रिका पटना विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थी निकालते थे। उसके गॉडफादर थे नवल जी (नंद किशोर नवल)। नवल जी की प्राथमिकता और पक्ष-अंगीकरण और चतुर रणनीति की एक-से-एक कहानी कुलानंद जी सुनाते थे (वह कुलानंद जी के समवयस्क मित्र थे और एक जमाने में दोनों मिलकर 'ध्वजभंग' नाम से एक लघुपत्रिका भी निकालते थे)। सो, नवल जी ने अपूर्वानंद से लिखवाया लेख और ख़ुद भूमिका लिखी। अंक का शीर्षक था, 'नागार्जुन की राजनीति'! जितनी गालियाँ संभावित हो सकती थीं मार्क्सवादी भाषा में, जितने दुर्वचन कहे जा सकते थे, जितनी अधम कोटि का प्राणी उन्हें साबित किया जा सकता था—इसमें एक भी कसर बाक़ी नहीं रहने दिया गया था। उसका मूल स्वर यह था कि नागार्जुन नाम के इस आदमी का मस्तिष्क अपरिपक्व है, इसके विचार में कोई सामंजस्य नहीं है, और हमेशा अपना

स्वार्थ जहाँ सिद्ध होता हो, वहीं खिसकते जाना इसके जीवन का लक्ष्य रहा है। आदि-आदि।

यह पत्रिका ऐसे समय में रिलीज की गई जब बहुत दिनों के बाद इतने निरंतरतापूर्वक बाबा बिहार में आकर रह रहे थे। इसमें हमलोगों को नवल जी की एक और रणनीति दीख पड़ती थी। नवल जी अपने को 'बिहार का शेर' समझते और पूरे देश से इसका सर्टीफिकेट चाहते। इसमें उनके लिए झंझट पैदा करते एक मात्र बाबा ही। सो बाबा को ध्वस्त करने से रास्ता आसान बनता था। मगर इतनी चतुराई उन्होंने की कि लेख ख़ुद नहीं लिखकर चेला-चाटी से लिखवाया, ताकि झंझट पड़ने पर चेले-चाटियों पर ही खेप जाने का रास्ता बचा रहे। मगर भूमिका ज़रूर उन्होंने ख़ुद ही लिखी, जिससे यह समझने में भी दिक़्क़त न आए कि यह आयोजन उन्हीं का है।

पटना यूनिवर्सिटी में मेरे एक मित्र थे—विकास शेखर। वह बाबा के साहित्य के जितने पारखी उतने ही नवल जी के विरोधी। सो उस विकास ने हिंदी विभाग के केरीडोर में यह घोषणा की कि चूँकि साहित्य की ज़द से बाहर निकलकर बाबा की समीक्षा की गई है, इसलिए इसका जवाब भी साहित्य की ज़द से बाहर निकलकर ही दिया जाना चाहिए। नवल जी हिंदी विभाग में प्रोफ़ेसर थे और विद्यार्थियों में लातों-जूतों वाला आक्रोश था।

ठीक उसी समय बाबा प्रायः गाँव से लौटे थे और शोभा भाई उनके साथ आए थे। शोभा भाई पहली नज़र में मेरे मित्र बन गए थे। बहुत स्नेहिल और उत्साही व्यक्ति पाकर उन्हें मैंने यह सारी बात कही थी। दूध-मछली जैसी स्थिति हुई थी थोड़ी, मगर नौजवानों का आक्रोश उन्हें मोटा-मोटी पसंद आया था। ये सारी बातें पता नहीं कैसे बाबा को भी मालूम पड़ गईं। एक दिन दो चार मित्रों के साथ विकास बाबा से मिलने आये, मैं भी था। बाबा ने पूछा था, 'आपको शतरंज खेलने आता है?'

विकास को शतरंज खेलने नहीं आता था। मुझे भी नहीं आता था। बाबा ने कहा, 'शतरंज के जितने उपकरण होते हैं न घोड़े, हाथी, प्यादे आदि-आदि सबकी अपनी औकात निर्धारित होती है कि कौन कितने घर चलेगा! उनकी औकात से आप नाराज हो रहे हैं, अपनी औकात का तो पता लगाइए— ' झंझट यहीं पहुँचकर ख़त्म हो गई।

इसके थोड़े दिनों बाद या कि इससे पहले, ठीक याद नहीं आता है, बाबा नवल जी के डेरे पर गए थे। मैं साथ में था। आम का महीना था। याद आता है कि नवल जी ने सुच्चा मालदह आम भरपेट हमलोगों को खिलाया था। सो, उस

दिन मैं जो गया था तो मेरे व्यवहार और आचरण में नवल जी के प्रति एक अवज्ञा का भाव था। नवल जी ने इस बात को लक्ष्य नहीं किया होगा। उनकी नज़र में मेरा क्या महत्त्व, क्या औकात थी कि मेरी अवज्ञा को वह तरजीह देते, मैं तो उनकी दृष्टि में नागार्जुन का झोला टाँगने वाले से अधिक क्या रहा होऊँगा, मगर बाबा ने इस बात को लक्ष्य कर लिया था। वहाँ से लौटने पर बाबा ने बहुत देर तक मेरा क्लास लिया, 'तारा बाबू, असहमत वातावरण में जाइए तो हतप्रभ नहीं होना चाहिए। जो अबूझ लगे उसमें घुसना ज़रूर चाहिए। प्रश्नादि करना चाहिए। लेकिन अगर आप हतप्रभ हुए तो वे आप पर चढ़ बैठेंगे। यही दुनिया की रीत है।'

कैसा अद्भुत विश्लेषण था! मेरी अवज्ञा को उन्होंने 'हतप्रभ' होने की कोटि प्रदान की थी।

वस्तुतः 'अवज्ञा' शब्द भी तो अपने आचरण के लिए मेरे ही द्वारा दिया गया शब्द था और इसकी संभावना से कैसे इनकार किया जा सकता है कि इस शब्द-निर्णय के पीछे मेरा अहंकार आकर नहीं सट गया हो! और बाबा अहंकार पर चोट करने का कोई अवसर नहीं छोड़ते थे।

बाबा की एक आदत मैंने ख़ास तौर पर नोट की कि वे अपनी प्रशंसा देर तक नहीं सुन पाते थे। यहाँ तक तो उन्हें अच्छा लगता अगर कोई कहें—बाबा, आपकी अमुक कविता मैंने पढ़ी, अच्छी लगीं, लेकिन इससे आगे बढ़कर अगर कोई उसका विश्लेषण करने लगता कि कविता का कथ्य, ऐसी विशिष्ट भाषा, ऐसी सुंदर शैली, ऐसा विवेचन आदि-आदि, तो बाबा बोर हो जाते। अगर किसी बुजुर्ग ने यह सब कहा होता तो बाबा अन्यमनस्क हो जाते लेकिन अगर यह कथन किसी नए लड़के का होता तो या तो बाबा उसे किसी अन्य प्रसंग में उलझा देते अथवा डाँटकर चुप कर देते। ऐसा प्रसंग कई बार मेरे सामने घटित हुआ।

बाबा कहते—अगर कोई कविता तुम्हें अच्छी लगी तो उसे पचने दो। वमन क्यों करते हो? वमन करना न तो तुम्हारे हित में है न कवि के हित में। और कवि के सामने जाकर अगर तुम उसका गुणगान करते हो तो समझो तुम उसे तंग कर रहे हो।

उन्हें यह भी पसंद नहीं था कि कोई लेखक घोषित रूप से उन्हें अपनी किताब समर्पित करे। एक बार की घटना याद आती है। उन्हें एक पत्र आया था, प्रायः दिल्ली से। किसी नामी लेखक का। याद नहीं कि किनका पत्र था। उस पत्र में लेखक महोदय

ने लिखा था कि मेरी नई किताब प्रेस में है। उसे मैं आपको समर्पित करना चाहता हूँ, आप अनुमति दें। वह पत्र जब बाबा को मिला, मैं उन्हीं के साथ था। पत्र को मैंने भी देखा। मुझे यह बात नहीं जँची। भई, अगर आपको अपनी किताब बाबा को समर्पित करने की श्रद्धा होती है तो करें, इसमें अनुमति माँगने की क्या बात है? यह तो समर्पण नहीं हुआ, रणनीति हुई। मुझे ऐसा ही लगा था।

लेकिन बाबा की जो प्रतिक्रिया थी, वह मारक थी। वे एकदम बिगड़ पड़े—यह तो चुतियापे की पराकाष्ठा है साहब! क्यों मुझे समर्पित करोगे? काहे के लिए? कौन मैं होता हूँ तुम्हारा? आदि-आदि। सो, मैं कह रहा था कि बाबा अपनी प्रशंसा से इस तरह भड़क उठते जैसे सामान्यत: लोग अपने दुश्मन की प्रशंसा से भड़कते हैं। मेरा आकलन था कि बाबा उस फेज को पार कर गए थे, जिसमें रचनाकारों को अपनी प्रशंसा से लिखने की प्रेरणा और उत्साह जगता है। लेकिन बाबा दूसरी बात कहते थे। उनका कहना था कि प्रशंसा या निंदा मुद्दे पर आधारित होना चाहिए। अगर मैं कोई सही बात कह रहा हूँ तो आपको उस बात के प्रति ग्रहणशील होना चाहिए न कि उस व्यक्ति के प्रति, जिसके द्वारा बात कही गई! यह विरल बात थी। ऐसा गुण मैंने किसी में नहीं देखा था। मुझे यह बात मुग्ध करती थी कि स्वयं वक्ता अपने द्वारा कही गई बात के प्रति क्या इतना निरपेक्ष हो सकता है! लेकिन, ऐसा संभव था, जिसका प्रमाण बाबा थे।

बाबा से मिलने कई लोग आते। लेकिन, मैं महसूस करता कि ऐसे कुछ ही लोग थे जिनसे बाबा पूरे मन से बतियाते या जिनसे बात करते वक़्त परम आनंदित रहा करते। ऐसी बातचीत में अधिकांशत: मैं भी शामिल रहता। बाबा की यह उदार मित्रता थी कि आनंदपूर्ण बातचीत में मुझे मात्र शामिल ही नहीं करते बल्कि बीच-बीच में मुझसे टिप्पणी या राय भी माँगते।

एकाध बार मैंने इस बात को विश्लेषित करने की चेष्टा की थी कि फलाँ-फलाँ व्यक्तियों के साथ बातचीत करने में उन्हें इतना आनंद क्यों आता है। इसके बहुत व्यावहारिक कारण होते थे। व्यावहारिक और रागात्मक भी। यह बात सर्वविदित है कि स्थितियों को देखने का उनका दृष्टिकोण अत्यंत ताजगीपूर्ण, गतिशील और इसी कारण से अनूठा होता था। अधिकांश लोग इस तरह से सोचने के अभ्यस्त नहीं होते—मीडिया के प्रभाव के कारण, पार्टी के प्रभाव के कारण अथवा परंपरा के कारण और स्वल्पप्रातिभता के कारण—सो ऐसे लोग जब बाबा के संग गपियाते तो अधिकांशत: लोग चमत्कृत हो उठते। चमत्कृत और अप्रतिभ। स्वाभाविक ही था कि ऐसे लोग चमत्कार के बंधन में फँस जाने के कारण सहज नहीं रह पाते और

बाबा की गति के साथ उनकी उड़ान संभव नहीं हो पाती। बाबा की किसी एक या दो ही बात पर वे ठहर जाते और 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' करने लगते। यद्यपि ऐसे लोग भी बाबा के लिए असह्य नहीं लगते लेकिन ऐसे लोगों के साथ बातें करने में उन्हें आनंद नहीं आता था।

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे थे कि बाबा की कही बातों से चमत्कृत तो ज़रूर होते, लेकिन इतना सहज ज़रूर बने रहते कि अपने प्रतिकथन से बाबा की बात को आगे बढ़ा देते। वार्त्ता को आगे बढ़ाकर बहुआयामी बना देने वाले लोगों से बाबा की ख़ूब पटती थी। एक दूसरा तरीक़ा भी था। बाबा की किसी बात पर अपना टोटल इन्वॉल्वमेंट प्रदर्शित करते हुए उनसे कोई ऐसा प्रश्न पूछ दिया जाये, जिससे उन्हें आगे और बोलने की उत्तेजना हो तो कई बार इसमें भी उन्हें बहुत मज़ा आता। इस तरीक़े में लेकिन ख़तरा था। स्वल्पप्रातिभता के कारण अगर स्टीरियोटाइप प्रश्न दुहराए जाने लगते तो बाबा बहुत जल्दी थक जाते और आनंद भी ग़ायब हो जाता। मेरा जो रास्ता था, सो यही ख़तरनाक रास्ता था। मेरे पास दूसरा उपाय भी कहाँ था! मेरी सीमा थी। ज़्यादातर ऐसा होता कि बात तो मैं मित्र-भाव से ज़रूर शुरू करता लेकिन अतिशीघ्र शिष्य-भाव पर उतर आना पड़ता। बाबा को इसमें भी आनंद आता। लेकिन यह आनंद ज़्यादातर अनुस्मृति और प्रतिस्मृति को पुनः जीने का आनंद था, ताजा-ताजी सहचिंतन के आकाश में विचरण करने का आनंद नहीं था। हाँ, यह बात ज़रूर थी कि मैं बहुत तेज़ी से तरक्की कर रहा था और अब इस सीढ़ी पर भी मेरे पाँव पड़ने लगे थे।

तो, मैं कह रहा था कि बाबा को अपनी प्रशंसा बेकार लगती थी। वे दीन-दुनिया के साथ थे और अलग से कोई पद्मभूषण नहीं चाहते थे। उनकी जो कविता थी, 'वे और तुम' जो मुझे बहुत प्रिय थीं, उसमें वे कहते हैं—

उनको दुख है
नए आम की मंजरियों
को पाला मार गया है
तुमको दुख है
काव्य-संकलन
दीमक चाट गए हैं

इस कविता में जो दुख में (और सुख में भी) अंतर किया गया है—जनता

का दुख अलग, कवि का दुख अलग—उसमें वे जनता के दुख के साथ थे। सो, वे सावधान रूप से थे, ऐसा भी नहीं। यह उनकी मूल प्रवृत्ति में, जीवन-धारण में शामिल हो गया था, अगर वे इसके साथ नहीं रहते तो दारुण दुख पाते, कुछ वैसा ही।

मैथिली में, बड़े-प्रसिद्ध लेखकों का अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित करने का चलन है। कई लेखकों के अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। कद-काठी और दाय-प्रदाय में जो उनसे बहुत छोटे हैं, उनलोगों पर भी ग्रंथ छपे! बाबा पर ऐसा कोई ग्रंथ नहीं छपा, यद्यपि अगर वह छपा रहता तो आलमीरा के धूल-धक्कड़ों और दीमकों के ही काम नहीं आता, साहित्य और जनता के काम आता। भारत देश के राजे-रजवाड़ों ने उन्हें पद्मभूषण नहीं दिया और सेठ-साहूकारों ने ज्ञानपीठ नहीं दिया। यह बात तो समझ में आती है (कैसे देते? वे तो उनलोगों के लिए ख़तरनाक प्राणी थे) लेकिन यह समझना थोड़ा कठिन ज़रूर लगता है कि उन्हें अपने आधुनिक और प्रगतिशील साहित्य का प्रथम पुरुष मानने वाले एक ग्रंथ तक नहीं निकाल पाए। लेकिन नहीं, यह समझना भी कठिन नहीं है। जिन महारथियों पर ग्रंथ निकले, मुझे लगता है कि परदे के पीछे से उन लोगों ने स्वयं उसे प्रोजेक्ट किया। बाबा ने वैसा नहीं किया। वे क्यों करते? उन्हें इसकी क्या ज़रूरत थी? और ज़रूरतमंदों की अगर गिनती की जाय (यानी जनता और साहित्य-प्रेमियों की) तो यह तो सब से ज़्यादा होता। जो मैथिल बुद्धिजीवी बाबा के लिए निस्पन्द और निरूपाय साबित हुए, वही दूसरों के लिए संवेदनशील और समर्थ कैसे हो गए?

लेकिन 1985 में ही बाबा के अभिनंदन ग्रंथ की योजना बनी थी। संपादक-मंडल में कुलानंद जी और मोहन भारद्वाज भी थे। मुझे कुलानंद जी ने ही यह सूचना दी थी। एक लेख लिखने का भार मुझ पर भी था।

वह लेकिन संभव कहाँ हुआ?

हिंदी में उन पर अनेकानेक पुस्तकें आईं, अनेकानेक मोटे-मोटे विशेषांक आए, जबकि मैथिली की तरह वे हिंदी के प्रथम पुरुष नहीं थे। कारण क्या मात्र साधन की ही कमी रही होगी? स्पन्दन की नहीं?

और बाबा? वे तो 'वन-वे पाथ'-से थे! उनकी वर्णमाला में तो जैसे 'देना' अक्षर ही था, 'लेना' कहाँ? अब इस बात पर अगर आपको उन्हें प्राप्त लखटकिया पुरस्कार याद आ जाए, तो वह ग्लानि की ही बात कही जाएगी।

बाबा के साथ रहते–रहते एक निर्लिप्तता क़िस्म की चीज़ मेरे व्यक्तित्व में भी घुसती गई। इसे कर्मण्येवाधिकारिता भी कहा जा सकता है। इससे मैं पहले से भी परिचित था। संस्कृत का छात्र था। पंडितों से अक्सर चर्चा–परिचर्चा होती रहती। गीता मैंने पहले ही पढ़ रखी थी। संस्कृत के जो सुघड़ पंडित होते हैं, वे लोग ज़्यादातर गीता के ही चतुर्दिक घूमते रहते हैं। लेकिन वह चर्चा–परिचर्चाओं तक ही। उनलोगों के व्यक्तित्व में इस चीज़ की आशा करना दुर्लभ बात होती। व्यक्तित्व में तो जितनी फलैवाधिकारिता संस्कृतज्ञों में होती है, उतनी दूसरों में काहे की होगी ? सो, बाबा के साथ रहकर जब मैंने इस चीज़ को व्यक्तित्व में साक्षात होते देखा, तब जाकर इसका रहस्य समझा। और रहस्य को जानना ही तो अंततः व्यक्तित्व में इसके अंगीकार का प्रस्थान–बिंदु होता है।

धीरे–धीरे कैसे यह चीज़ मेरे भीतर विकसित होती गई, उसके दृष्टांत के लिए मैं दो प्रसंगों की चर्चा करूँगा।

पटने में निवास के शुरुआती दिन थे कि उस बीच पटना विश्वविद्यालय में एक भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। बहुत प्रेस्टीजियस प्रतियोगिता थी वह। उसका विषय था स्वामी विवेकानंद की युवा–नीति। विवेकानंद के दर्शन से बहुत प्रभावित था। उनका साहित्य मैंने पढ़ रखा था। इसलिए उत्साहपूर्वक पूरी तैयार कर उसमें भाग लिया था। प्रतियोगिता में काफ़ी अच्छा बोला भी था। पूरा हॉल स्तब्ध रह गया था। निशांतकेतु निर्णायक मंडल के अध्यक्ष थे ! एक कोई और थे। वे लोग बेईमानी–शैतानी में किसी प्रकार की कोताही नहीं करते थे। घुसखोर मंत्री वा भ्रष्ट अफ़सर से तात्विक रूप से इस प्रोफ़ेसर–समूह को अलग करना कठिन था। जिन्हें जहाँ अवसर मिलता, अपने कृपा पात्र को ऊपर कर देने में किसी प्रकार का असौकर्य नहीं समझा जाता था। सो, जब प्रो. निशांतकेतु ने अपना निर्णय सुनाया तो पूरा हॉल फिर स्तब्ध रह गया। मेरे विभाग के छात्रों ने शोर–गुल मचाना शुरू कर दिया। पहला स्थान तो मुझे नहीं ही मिला था, दूसरा–तीसरा भी नहीं, मुझे चौथा स्थान दिया गया था। जब हमारे विभाग के छात्रों ने हल्ला कर इस निर्णय का कारण पूछा तो तांत्रिक वेषी निशांतकेतु जी ने कारण बताया कि इनकी भाषा साहित्यिक थी, इसलिए उन्हें प्रथम–द्वितीय–तृतीय स्थान पर नहीं रखा गया। दिल्ली के पूर्व राज्यपाल बालेश्वर प्रसाद पुरस्कार वितरण करने आए थे। मैंने पुरस्कार का बहिष्कार कर दिया।

इस घटना ने मुझे भीतर तक हिला कर रख दिया। मेरी मानसिक स्थिति ऐसी हो गई, मानो मैं पागल हो गया होऊँ। निछच्छ पागल। कभी चिल्लाने लगता, गालियाँ

बकने लगता, कभी रोने–कलपने लगता। आज उस विषय पर सोचता हूँ तो हँसी आती है। कितना कमज़ोर था मैं। उस रात मैंने शराब पी और तब भी जब अपने को संतुलित नहीं कर पाया तो पहली बार नींद की टिकिया भी खायी। लेकिन हद थी कि नींद नहीं आई। वह मेरे लिए कालरात्रि थी।

और 1986 के मध्य में, जब पटना विश्वविद्यालय में मेरे आख़िरी दिन बीत रहे थे, रामकृष्ण मिशन आश्रम की ओर से फिर एकबार भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई। इस बार भी विवेकानंद पर ही बोलना था। उनकी एक पंक्ति दी गई थी, जिसमें कहा गया है कि अपने आप पर श्रद्धा और उसके बाद ही परमात्मा पर श्रद्धा, यही उन्नति का एकमात्र पथ है। इसी पर बोलना था। इस बार भी मैंने भाग लिया। इस बार भी मैंने काफ़ी तैयारी की थी लेकिन आश्चर्य, वह कितनी सहज तैयारी थी। एकदम खाते–पीते, जाते–आते मैंने निर्णय कर लिया था कि मुझे क्या बोलना है और कैसे बोलना है। बोलते वक़्त मेरी जो मुद्रा और शैली थी, वह किसी प्रतियोगिता की शैली नहीं हो सकती थी। मैं एक विचारक की शैली में अपनी बात रख रहा था, पूरी पक्षधरता के साथ लेकिन निर्लिप्त होकर, जैसे इस बात से मुझे कोई मतलब नहीं कि मेरे भाषण को आप किस स्थान पर रखेंगे। मतलब मात्र उसी बात से जिसे स्वामी जी ने कहा था, उसे मैं किस अर्थ में समझता हूँ। कहना आवश्यक नहीं कि इस प्रतियोगिता में मुझे पहला स्थान मिला था। मुझे पहला स्थान मिला था लेकिन ऐसी कोई ख़ुशी नहीं थीं कि जैसे मैंने बाघ मार लिया हो।

इसे मैं बाबा की सत्संगति का एक प्रभाव मानता हूँ। यह इस बात का भी प्रभाव था कि उनकी कविता 'वे और तुम' को मैंने अपने कमरे की दीवार पर चिपका रखा था। यह सब इस बात का भी प्रभाव था कि...

एक प्रसंग याद आ गया। 'कोशी कुसुम' का जो काम मैंने शुरू किया था, उन दिनों पैसे का घोर अभाव था मेरे पास। कुसुम का लघुकथा अंक प्रेस में था। मुझे बाक़ी रचनाएँ लाने के लिए अम्बिका जी के पास जाना था। वह श्रीकृष्णापुरी में रहती थीं, मैं महेन्द्रू में। प्रेस भी महेन्द्रू में ही था। जेठ की जलती—आग बरसाती दोपहर थी। जेब में इतने पैसे नहीं कि टेम्पू से जा सकूँ। मैं उन्नीस–बीस बरस के उस नवयुवक को साफ़–साफ़ देख रहा हूँ। वह भयानक दोपहर में बोरिंग रोड की ओर बढ़ता जा रहा है। पसीने से लथपथ। धूप में हाँफता–सा। लेकिन वह लय में पढ़ रहा है एक कविता। वह दृश्य मेरे जीवन की यादगार धरोहर है। उस दिन मैं बाबा की कविता पढ़ता, बढ़ा जा रहा था, 'ऐसे भी हम क्या! ऐसे भी तुम क्या!'—

ऐसा भी तन क्या
ऐसी भी देह क्या
सह न सके —
शीतातप— वृष्टि-उमस—
पुलक, पसीना
प्रभंजनी वात्याचक्र
चरम ठिठुरन, हड़कंप
लू के थपेड़े, विघूर्णन—
सह न सके —
शिरः शूल, आँतों की मरोड़
ऐसी भी देह क्या
ऐसा भी तन क्या!

तो यह इसका भी प्रमाण था कि किसी एक व्यक्ति का प्रभामंडल और विचार किसी दूसरे व्यक्ति को कैसे प्रभावित कर सकता है।

बाबा से जब कभी बात होती तो कभी-कभार वे अपने विगत जीवन की कहानियाँ सुनाते। अपने विद्यार्थी जीवन की बातें कहते। याद आता है अपने गाँव के एक संत रोहिणी दत्त गुसाईं की कहानियाँ वे कहते। गुसाईं जी एक अद्भुत संन्यासी थे उनके गाँव के, जिनका काफ़ी प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा था। निरालाजी का प्रसंग भी वे ज़्यादातर उठाते। दो प्रसंग तो ख़ास तौर से मुझे याद हैं। एक तो वह खिचड़ी वाला प्रसंग, कि दरियागंज मुहल्ले में जब निराला जी एक अभ्यागत को स्वयं खिचड़ी पकाकर खिला रहे थे, और उन्होंने पूछे जाने पर उनके बनाये पाक की निंदा की कि तुरंत निराला जी ने मारने को लकड़ी उठाया। अब भागते हुए अभ्यागत आगे-आगे और निराला जी उन्हें पछाड़ते पीछे-पीछे। और उनका सुनाया दूसरा प्रसंग याद आता है कि जब गांधीजी ने एक दफा अख़बार में बयान दिया कि हिंदी के लेखकों को दरबारी भाषा में नहीं लिखनी चाहिए, तो निराला जी ने घनघोर प्रतिवाद किया था कि हिंदी दरबार की भाषा थी कब जो गांधीजी आज इसे जनता की भाषा बनाना चाहते हैं। हिंदी तो सब दिन से जनता की ही भाषा है। और मुलाक़ात होने पर जब गांधीजी ने कहा था कि मैं अपने आपको भी हिंदी का एक छोटा-मोटा कवि मानता हूँ तो निराला जी ने फिर प्रतिवाद किया, 'आप गांधीजी, कवि कैसे हो सकते हैं? आप तो स्वयं कविता हैं।'

प्रेमचंद से बाबा की जो भेंट हुई थी, वह बहुत शुरुआती दिनों में। वे उन दृश्यों का वर्णन करते। एक दिन बाबा ने कहा, 'प्रेमचंद अभी मरते थोड़े ही, उन्हें तो उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने मार दिया।'

मेरे लिए यह घोर आश्चर्य की बात थी। मैंने पूछा, 'वह कैसे बाबा?'

बाबा बोले, 'बहुत अस्वस्थ थे प्रेमचंद। ख़ून की उल्टी होती थी। डाक्टर ने कम्पलीट बेडरेस्ट कह रखा था। इधर पत्रिकाओं से कहानियों की माँग होती—ताबड़तोड़। सो, प्रेमचंद की देह में इतनी भी ताक़त नहीं थी कि वे उठकर बैठते और इधर शिवरानी उनके हाथ में कलम थमा देतीं कि एक कहानी लिख दो क्योंकि इससे पैसे आने होते। इसे जान मारना नहीं कहा जाएगा?'

श्रीलंका के बौद्ध विहार में बिताये जीवन के बारे में मैं कभी-कभार उन्हें कुरेदता रहता था। तब वे छोटी-छोटी बातों को विस्तृत विवरण के साथ सुनाया करते थे। उनमें वे इसका भी खुलासा करते कि किस ग्रंथ का अध्ययन उन्होंने कैसे, किस गुरु से, किस प्रक्रिया से पूरी की। इस प्रसंग की एक बात याद आती है। एक दिन बाबा ने कहा, 'जानते हैं तारा बाबू, वहाँ मैं क्या देखता कि भोजन के वक़्त सभी, श्रमण से स्थविर तक एक डब्बा निकालते। उस डब्बे में क्या तो किसी चीज़ का चूर्ण। अरे बाबू, यह किस चीज़ का चूर्ण है कि सभी इतने स्वाद से खाते हैं। समझे? वह सूखी मछलियों का पाउडर हुआ करता था! वही तो तत्त्व था जो विधवा भोजन को सुहागवती बना देता था।'

एक दिन यही बातें हो रही थीं कि बाबा ने कहा, 'तारा बाबू, एक काम हमलोग करते हैं। उन्हीं दिनों से मैं चाह रहा हूँ लेकिन अब तक हुआ नहीं। अब आप मिले तो ज़रूर हो जाएगा।'

मैंने पूछा, 'सो क्या बाबा?'

बाबा ने कहा, 'हमलोग संस्कृत में एक पत्रिका निकालें। ज़्यादा नहीं, बत्तीस पृष्ठों की। एकदम ताजातरीन चीज़ें उसमें छपें। यह क्या है भाई तो ग़ज़ल, यह अकविता, यह व्यंग्य। और उसमें समस्यापूर्त्ति ज़रूर रहे। बनाइए योजना।'

मैं उत्साहित हो गया, 'पत्रिका का नाम क्या रखा जाय बाबा?'

बाबा ने कहा, 'हाँ, नाम क्या रखा जाय? रुकिये, कुछ नामों का चुनाव किया जाय।' मेरे हाथ में दैनिक 'मिथिला मिहिर' की प्रति थी। वही उन्होंने माँग लिया। अख़बार के हाशिये पर पत्रिका का नामकरण-संस्कार होने लगा।

वे नाम क्या थे, देखें—भामती, तत्त्वबोधिनी, चूर्णिका, रेचकम्, सूचनिका, विदूषकः, काकूतिः, अष्टावक्रः, छिन्नपत्रम्।

विचार होने लगा तो 'चूर्णिका' और 'रेचकम्' उन्हें पसंद नहीं आया। 'अष्टावक्र:' और 'छिन्नपत्रम्' नाम उन्हें ज़्यादा पसंद। उन्होंने पूछा तो मैंने कहा कि 'छिन्नपत्रम्' मुझे ज़्यादा पसंद है। बाबा को 'अष्टावक्र:' ज़्यादा पसंद था।

उसी दिन पत्रिका के साथ-साथ मेरा भी नामकरण-संस्कार हो गया। बाबा बोले—दो व्यक्ति इसके संपादक होंगे—यात्री नागार्जुन और वि. तारानंद।

उस दिन से वे मुझे वि. तारानंद के नाम से ही चिन्हित करने लगे।

पत्रिका तो नहीं छपी लेकिन मैं अपने नाम का धनी ज़रूर हो गया।

पटने में रहते मैंने इस बात को साफ़-साफ़ जीवन के साथ घटित होते देखा कि आदमी को अगर अपने गंतव्य का पता हो तो किस रास्ते उसे बढ़ना है, वह स्वत: स्पष्ट होता जाता है। यह बात सिर्फ़ मेरे ही साथ हुआ, ऐसा नहीं है। यह तो प्रकृति का ही नियम है। तब, अधिकांश लोग जो भटक जाते हैं, उसका कारण होता है कि उन्हें अपने गंतव्य का ठीक-ठीक पता नहीं होता। कई लोग अपने रास्ते को ही मंज़िल समझ लेते हैं। कई लोगों के साथ ऐसा भी होता है कि जो रास्ता सुगमतापूर्वक मिल गया, उधर ही बढ़ते गए और जहाँ पहुँच गए, उसी को अपना गंतव्य मान संतुष्ट हो गए। लेकिन सच में क्या वे संतुष्ट हो पाते हैं? क्या यह संतुष्टि संभव है? अप्राकृतिक दिशा में बढ़कर प्राप्त किया गया गंतव्य किसी को कैसे संतुष्ट कर सकता है?

आगे चलकर पटने में मुझे अच्छी आमदनी होने लगी। आमदनी कठिन परिश्रम से होती थी अवश्य, लेकिन इतनी हो जाती थी कि पूरे महीने के ख़र्च के बाद चार-पाँच सौ रुपए बच जाते थे। इन रुपयों का उपयोग मैं किताबें ख़रीदने में करने लगा। किताबें वैसी जो सस्ते दामों में मिलती थीं। गांधी मैदान की खादी बिल्डिंग में आधी क़ीमत की किताबें बेचने वाले मेरे मित्र हो गए थे। आजकल की तरह उन दिनों भयानक कैरियरिज्म का जमाना नहीं आया था और इन दुकानों पर साहित्यिक-वैचारिक किताबें भी मिल जाती थीं! साइंस कॉलेज के पास एक ऐसी ही दुकान कठघरे में थी। उसके पास इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र वाली किताबों की भरमार रहती थी। वैसी किताबें बंडल के बंडल मैं ख़रीदता।1985 में ही पटने में पहली बार पुस्तक मेला लगा था। सो, उन फटेहाल दिनों में भी मैंने मेले से सोलह सौ रुपए की किताबें ख़रीदी थीं। हाँ, एक रेडियो भी मैंने ख़रीद ली थी और बाबा की ही तरह बी.बी.सी. नियमित सुनने लगा था।

पैसे गाँव नहीं भेजना पड़ता था। उसका फ़ायदा उठाते मैंने किताब और

पत्रिकाओं का एक बड़ा सा मठ खोल लिया था और उसका महंथ बन गया था। किताबें बहुत थीं, कोर्स भी पूरा करना था, लेकिन समय ही नहीं बच पा रहा था। रात-दिन मैं कठिन भीड़ में भटकता रहता और शाम में उधर से ही भोजन कर लौटता तो उस समय बस सोया ही जा सकता था।

मेरे इस भाग-दौड़ और महंथी प्रवृत्ति से बाबा घोर असहमत हो गए। उसकी एक वजह यह भी थी कि बाबा के लिए भी मैं पहले की मानिंद समय नहीं निकाल पाता था। बाबा एक दिन मेरे कमरे में आए तो पूछा, 'किताबें तो बहुत सारी जमा हो गई हैं तारा बाबू, सभी पढ़ गए?'

संकोचपूर्वक मैंने कहा, 'नहीं बाबा, समय नहीं मिल पाता है। पढ़ूँगा धीरे-धीरे।'

वे कहने लगे, 'एक होता है पल्लवग्राही अध्ययन। आपको पूरे पेड़ का विवरण लेना हो तो आप ऐसा कर सकते हैं कि सभी पल्लव को गिन लें। उसका विवरण ले लें। स्थूल रूप से तो पेड़ का अवलोकन हो ही जाता है इससे। तो अभी पल्लवग्राही अध्ययन कर लीजिए। आगे जब जिसका काम पड़ेगा, उसे उलट लीजिएगा।'

मैंने कहा, 'जी बाबा, यह अगर अभी नहीं कर लूँ तो बाद में पता कैसे चल पाएगा कि मेरे पास कौन-कौन-सी किताबें हैं और उनमें कौन-कौन से विषय विवेचित हुए हैं!'

लेकिन बाबा को जो मूल बात कहनी थी, वह यह नहीं थी। यह तो अपने कथन को मित्रसम्मत बनाने के लिए उन्होंने अलंकार-प्रयोग किया था। यह उनकी आदतों में शुमार थी।

बाबा ने कहा था, 'युवक विद्वान के लिए सबसे अधिक गुणकारी क्या होता है, वह समझे तारा बाबू?'

'क्या होता है बाबा?'

'एकांत होता है। साधना के लिए तो एकांत ही चाहिए न? आप किसी बुजुर्ग को पकड़ कर एकांत में डाल दीजिए। सुविधा दीजिए, लेकिन उनका मन नहीं लगेगा। एकांत उनके लिए नरक है। लेकिन युवक के लिए तो एकांत से बड़ा मार्गदर्शक कोई नहीं है।'

'ठीक कहते हैं बाबा! वह एकांत में रहेगा तो उसके विचार और कर्तृत्व व्यापक फलक पाएँगे।'

'और एकांत से विध्वंसक मन:क्रियाएँ भी निकल जाती हैं। लोग ज़्यादा स्वच्छ होकर निकलते हैं।' बाबा बोले।

याद है, उस समय मैं बाबा के आशय को ठीक-ठीक समझ नहीं पाया। लेकिन जैसे ही मैं आशय पूछने को हुआ, बाबा अपनी असली बात पर आ गए, 'एकांत लोगों को ख़ुद विकसित करना पड़ता है। नहीं?'

मैंने कहा, 'जी बाबा!'

'आप ऐसा करते तारा बाबू कि सप्ताह में एक दिन कमरे से नहीं निकलते। और शेष दिन तीन-चार घंटे जाग्रतावस्था में अपने कमरे में रहते।'

कृतज्ञता से भरकर मैंने कहा, 'जी बाबा, वही करता हूँ।'

बाबा ने पूछा, 'नवीन जी अब नहीं आते?'

मैंने कहा, 'उनकी व्यस्तता थोड़ी बढ़ गई है। महीने में एकबार आते हैं।'

'और वह छात्र, कैथिनियाँ वाले!'

'जी, विद्यानंद जी। वे कभी-कभार आते हैं। लेकिन कम ही। किसी कम्पीटीशन की तैयारी में लगे हैं।'

नवीनजी और विद्यानंदजी बाबा के प्रियपात्रों में से थे। विद्यानंद जी साइंस कॉलेज के हॉस्टल में रहते थे और एन.डी.डी.बी. के कम्पीटीशन की तैयारी में लगे थे। वे मुझसे अधिक प्रखर थे। उनकी रुचि वैचारिक अध्ययन में थी—और मेरी रुचि सृजन में। उनके साथ मेरी मित्रता गहन रागात्मकता के साथ शुरू हुई थी, लेकिन उनकी व्यापक सूचना और अध्ययन-सामग्री के सामने मैं ठहर नहीं पाता था और मेरे साथ समय बिताना उन्हें धीरे-धीरे बोरिंग लगने लगा था। संपर्क कम हो गया था।

बाबा ने कहा था, 'आप अच्छे डेरे में हैं। इसके एकांत को भंग न होने दीजिए और इससे तालमेल रखिए।'

यही हुआ। उनकी इस सलाह को जीवन में उतारने की चेष्टा में लग गया। वैसे यह जटिल था। जनता से गहन संपर्क और एकांत—दोनों में संतुलन। यही संतुलन मेरा काम्य हो गया।

मेरे पटना छोड़ने के समय बाबा वहाँ नहीं थे। उन्होंने फिर लंबे समय के लिए पटना छोड़ दिया था। 86 की गरमी में वे प्राय: जहरीखाल में थे और उसी समय केंद्रीय विद्यालय में मेरा इन्टरव्यू हुआ था। चयन भी हो गया। मैंने केंद्रीय विद्यालय ज्वाइन कर लिया। तब तक एम.ए. की परीक्षा भी नहीं हुई थी। उस साल मैंने परीक्षा ड्राप कर दी। केंद्रीय विद्यालय जमालपुर में मेरी पोस्टिंग हुई। मेरे सामने नया चैलेंज था। उन चीज़ों को आजमाने के लिए मेरे सामने अवसर था, जिनका ज्ञान मैंने बाबा से और दूसरी कृतियों से प्राप्त किया था।

हाँ, यह ज़रूर हुआ कि बाबा के साथ मेरा गहन संपर्क इस बीच टूट गया। बहुत-बहुत दिनों पर कभी-कभार उनका एकाध पत्र आ जाता। मैं तो ठीक-ठीक सूचना भी नहीं रख पाता कि बाबा कब कहाँ हैं!

जमालपुर के शुरुआती कुछ सालों का समय मैंने अपने ऊपर ही ख़र्च किया। किताबें जो ख़रीदी थीं, उन्हें पढ़ गया। एम.ए. की परीक्षा दी। केंद्रीय विद्यालय में मेरी बहाली ट्रायल बेसिस पर हुई थी, इस शर्त्त के साथ कि मुझे तीन साल के भीतर बी.एड. कर लेना है, तभी नियुक्ति स्थायी मानी जाती। इसलिए मैंने बी.एड. भी कर लिया। फिर पी-एच.डी. भी किया। और तब भी जब मेरा मन अकादमिक अध्ययन से नहीं भरा तो बी.पी.एस.सी. की तैयारी को एक बहाना बनाया। पहली बार में ही चयन भी हो गया। तब तो इसे बहुत ललक के साथ पकड़ा था। बिहार प्रशासनिक सेवा—वाह, क्या बात है! ऐसा ही लगा था। लेकिन, देहाती भुच्च अनुभवहीन मैं उन दिनों नहीं समझ पाया कि गले के लिए मैं घेघा पैदा कर रहा हूँ। मुझे लगता है, यह एक बड़ी ग़लती हुई जीवन की। अकादमिक बुद्धि-विलास के लिए मुझे डी.लिट्. का निबंधन करवा लेना चाहिए था।

जमालपुर में स्कूली शिक्षा पर मैंने बहुत सारे काम किए। कई प्रयोग किए। वे प्रयोग मेरे जीवन के उस कालखंड को सार्थकता प्रदान करते हैं।

हिंदी में लिखना भी उन्हीं दिनों शुरू किया। कविताएँ। हिंदी में मेरी पहली कविता 'पहल' में प्रकाशित हुई। क्रम चलता रहा। काफ़ी कविताएँ लिखीं।

रमेश नीलकमल के साथ 'कारखाना' का संपादन शुरू किया। उसके माध्यम से कुछ अच्छे काम भी हुए। किशन कालजयी को 'संवेद' प्रकाशित करने में संपादकीय सहयोग किया। इन चीज़ों में मेरा नाम रहा—तारानंद। मैथिली में भी कई काम हुए। अपनी अधिकांश कहानियाँ और लघुकथाएँ मैंने वहीं लिखीं। ऐसा था कि कविताएँ हिंदी में और गद्य मैथिली में लिखता।

और इस तरह, 1993 में मैंने बिहार प्रशासनिक सेवा ज्वाइन किया। प्रशिक्षण के लिए मुझे पूर्वी चंपारण के जिला मुख्यालय मोतिहारी में पदस्थापित किया गया। सर्किट हाउस और बाद में डाकबंगला मेरा निवास-स्थल रहे। परिवेश और परिस्थिति बदली। चुनौती भी बदल गई। हमेशा नए-नए कार्य करना, नई-नई चुनौती को स्वीकार करना शुरू से ही मेरे संस्कार का अंग था, सो इस सेवा में आने पर कुछ दिन बहुत आनंद में रहा। आनंद का कारण था—कार्य-वैविध्य।

मोतिहारी से दरभंगा सवा सौ किलोमीटर की दूरी पर है। दरभंगे में मेरे तूफानी दो साल बीते थे। कई आत्मीय थे वहाँ। लगभग सभी नई उमर के। उनमें से अविनाश मेरा अत्यंत प्रिय। उन दिनों उन्होंने मैट्रिक ही पास की थी लेकिन ओज और प्रखरता इतनी अधिक थी उनमें कि उम्र और अल्पज्ञता को ढँक देती। वे हमारे घनिष्ठ मित्र हुए और मैं उनका पारिवारिक सदस्य।

सो, अविनाश ने एक दिन मुझे सूचित किया कि बाबा दरभंगा आ गए हैं। लहेरियासराय में शोभाकांत जी के साथ रह रहे हैं। अभी यहीं रहेंगे। वह 1994 था।

मैंने लपक कर दरभंगा की गाड़ी पकड़ ली। अविनाश को साथ किया। शोभा भाई के डेरे पर जा पहुँचा।

बाबा के साथ यह मेरी तीसरी मुलाक़ात थी।

बाबा अब अपने जीवन के चौथेपन में प्रवेश कर गए थे। शरीर शिथिल हो रहा था। रोगों के प्रभाव घनीभूत हो रहे थे। शरीर से वह अब ज़्यादा समय तक काम नहीं कर पाते थे। दुर्बल दीख रहे थे। मन भी थका-थका-सा लगता था। बहुत देर तक एकाग्र नहीं रह पाते। जल्दी ही थक जाते। शोभा भाई अब उनके अभिभावक-से हो गए थे। शोभा भाई कम, भाभी ज़्यादा। भाभी के साथ उनकी ट्यूनिंग भी थी।

बाबा की यायावरी अब समाप्त होने पर थी, लेकिन वह कई जगह जाने की योजना बनाना नहीं छोड़ पाए थे। शोभा भाई ने तय कर लिया था कि बाबा अब अधिकांश समय दरभंगा ही रहेंगे, लेकिन बाबा का मन इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। बीसवीं शताब्दी ने तय कर लिया था कि वह सर्वनाश की ओर ही बढ़ेगी, लेकिन बाबा इसके लिए कतई तैयार नहीं थे। उनकी जीवनी-शक्ति, उनका दोटूकपन, उनकी प्रतिहिंसा—कुल मिलाकर कहा जाय कि उनकी जीवंतता एकदम भरी-पूरी थी, एकदम पहले की मानिंद।

बाबा अब भी नियमित रूप से अख़बार पढ़ते, रेडियो सुनते, देश-दुनिया की स्थिति-परिस्थिति पर रिएक्ट करते, आंगतुकों से अनन्त-अनन्त विषयों पर चर्चा-परिचर्चा करते। हाँ, इन चीज़ों की अवधि कम हो गई थी। शोभा भाई, रेखा भाभी और बच्चे इस बात का हमेशा ख़याल रखते कि बाबा कभी अवांछित तनाव, अप्रिय स्थिति में न पड़ जाएँ। बाबा से मुलाक़ात करने लोग जब-तब आते ही रहते। उन्हें एक निश्चित समय और निश्चित क्रम देने का भार भाभी ने अपने ऊपर ले लिया था। कुल मिलाकर भोजनादि से लेकर मानसिक सौविध्य तक, जितनी सुविधाएँ उन्हें दी जा सकती थीं, शोभा भाई दे रहे थे।

बाबा ने वही चिर-परिचित प्रश्न पूछा, 'कहिये तारा बाबू, क्या हाल है?'

संपूर्ण देश–दुनिया मिलाकर मेरे जो समाचार हो सकते थे, मैंने उनसे कहा।

मैंने उनसे समाचार पूछा। बाबा कहने लगे, 'बुढ़ापा जो है न तारा बाबू, वह रोगों का बंडल है। कुछ न कुछ लगा ही रहता है। बुढ़ापे में सबसे ज़्यादा भय होता है मृत्यु का। और जानते हैं, समूचा वेदांत दर्शन इस वर्णन से भरा हुआ है कि मृत्यु हमारा कुछ नहीं बिगाड़ती। शरीर मरता है, आत्मा अमर होती है। ये सारी बदमाशियाँ हैं। और जानते हैं, इन वेदांतियों के भीतर तो चौबीसों घंटे मृत्यु की ही धुकधुकी व्याप्त रहती है! कुछ लोग तो ऐसा समझते हैं कि जो बेवक़ूफ़ थे, वो मर गए। हम तो कतई नहीं मरेंगे। और क्या होता है कि बुढ़ापे में लोभ बढ़ जाता है।'

मैंने पूछा, 'मृत्यु का भय आपको भी होता है?

उन्होंने कहा, 'नहीं भाई! मुझे मृत्यु का भय नहीं होता। काहे को होगा? संस्कार में मजबूती से यह बात बैठी है कि एक दिन तो मरना ही है। ऐसा भी तो नहीं है कि मेरा संजीवनी तत्त्व चू गया। देखिये जीवन के सभी लक्षण मुझमें हैं कि नहीं?'

जीवन के सारे लक्षण बाबा में थे। वे मृत्यु के लिए सहज स्वीकृति रखे बैठे थे। तैयारी सिर्फ़ जीवन की ही? मृत्यु की नहीं? बाबा मृत्यु–उत्सव के लिए तैयार थे। तब, उनसे बात करते मुझे ऐसा लगा कि जहाँ संपूर्ण–जीवन होता है, वहाँ मृत्यु नहीं होती। मृत्यु–भय अगर किसी के भीतर व्याप्त है, तो तय बात है कि वह अपने जीवन को खुलकर नहीं जी पा रहा है।

बहुत देर तक कई प्रकार की बातें होती रहीं। पुराने क़िस्से। मिथिला की समकालीन परिस्थिति। नौजवान अविनाश इन दिनों बाबा के अत्यंत प्रिय थे। सो, अविनाश की प्रतिभा पर, समझदारी पर, अनुभवहीनता पर कई प्रकार की बातें हुईं।

बाबा अविनाश को बहुत प्यार करते, यह देख मेरी आँखें जुड़ा गईं। आज वह वहीं थे जहाँ आठ–दस वर्ष पूर्व मैं था। बाबा के लिए अलंघ्य श्रद्धा और असीम सेवाभाव! मैंने अविनाश को बाबा को प्रकृतिस्थ और सहज रखने के लिए कुछ गुर बताए, लेकिन वह तो प्रखर थे। उन्होंने सारे गुर ख़ुद ही विकसित कर लिए थे।

कुछ देर तक अविनाश ने उन्हें अख़बार पढ़कर सुनाया। मैंने कहा, 'बाबा, लोग कहते हैं और मैं भी कहता हूँ कि आप अब कहीं एक जगह स्थिर होकर रहिए।'

'हाँ भाई, अब मैं भी घूमना–फिरना बंद करना चाहता हूँ। स्थिर होकर रहना अब मुझे भी अच्छा लगता है। स्वास्थ्य तो वैसे अब भी निराशाजनक नहीं है, स्थिर होकर रहूँगा तो और भी सुधार होगा।'

जब बाबा ने कहा कि स्वास्थ्य अब भी निराशाजनक नहीं है, तो मेरे सामने बैठे अविनाश ने हाथ चमकाते हुए सिर हिलाकर मेरी ओर आश्चर्य की मुद्रा में इशारा

किया। तात्पर्य था कि देखिये भैयाजी, बाबा की शक्ति और विश्वास देखिए। स्वास्थ्य तो उनका निराशाजनक था ही लेकिन इसे मानने को वह तैयार नहीं थे।

मैंने कहा, 'हाँ बाबा। स्वास्थ्य तो निराशाजनक नहीं है। लेकिन बुढ़ापे में स्थिर होकर रहना आरोग्य की मूल बात है। नहीं?'

याद है मैंने अपनी स्थापना दी थी—बुढ़ापे में स्थिरता आरोग्य का मूल, थोड़ा ज़्यादा ही आत्मविश्वास से, थोड़ा ज़्यादा ही अधिकारपूर्वक ऐसी बात बोल गया था। लेकिन तुरंत मुझे याद आ गया वह समय—मेरा कोचिंग युग—कि जब मैं कहता आम तो बाबा कहते—नहीं नहीं, आम नहीं, ईमली। वे सारे प्रसंग याद आए तो तुरंत मैं अपनी स्थापना के विरुद्ध सुनने को तैयार हो गया, कहा जाय कि मैं पीछे हटने को तैयार हो गया। आख़िर बात भी तो मैंने छोटी नहीं कही थी। मैं उस 'युग युग धावित यात्री' को स्थिर रहने का संदेश दे रहा था, जिनके लिए यात्रा उनके श्वास-प्रश्वास की तरह जीवन-लक्षण बनी रही है। लेकिन, बाबा ने कहा—हाँ तारा बाबू, ठीक कहते हैं। यानी स्वीकार। यानी पुत्रमित्रवदाचरेत्। बाबा स्थिर होकर कितना रहते, यह तो आगे की बात थी। यह बात कितनी पूरी हो पाती, वह भी आगे की बात थी। (और वह पूरी भी कहाँ हो पाई? कई जगहों की दीर्घ-दीर्घ यात्राओं पर तो वे इसके बाद भी गए)। लेकिन बाबा के साथ मेरा सूत्र इस तरह जुड़ा था कि इस बात को मैंने एकदम आत्मकेंद्रित प्रसंग की तरह लिया था। बाबा ने मेरी कोई बात स्वीकार की, यह मेरे लिए किसी पुरस्कार की तरह था, परीक्षा में पास होने की तरह।

मैंने पूछा, 'कहाँ रहने की इच्छा होती है?'

उन्होंने कहा, 'महानगर में मुझे कलकत्ता पसंद है। बिहार के शहरों में राँची और देवघर। मैं तो स्थिर होना चाहता हूँ, लेकिन ये लोग मुझे खींच लाते हैं।'

अरे! शोभा भाई इन्हें खींच लाते हैं! ऐसा क्यों लगता है बाबा को कि उन्हें खींच लाया गया है! शोभा भाई को तो सपरिवार समर्पित देखता हूँ।

मैंने पूछा, 'ग्रामीण परिवेश में रहने की इच्छा नहीं होती है?'

बाबा कहने लगे, 'ख़ूब होती है। ग्रामीण परिवेश ज़्यादा प्राकृतिक होता है। उसमें जीवनीशक्ति का तत्त्व ज़्यादा रहता है। ताजा साग-भाजी वाला भोजन वहाँ मुझे पर्याप्त मिलता है। गाँव-घर में तारा बाबू, नब्बे-पंचानबे वर्ष वाले तंदुरुस्त बुजुर्ग अब भी आपको ख़ूब मिलेंगे। ग्रामीण परिवेश तो मेरे लिए बहुत उपयुक्त है, लेकिन ऐसी सुविधा ही नहीं है।'

मैं बाबा को लहेरियासराय में घेरना चाहता था और वे तरौनी चले गए थे।

लहेरियासराय उनके लिए न गाँव था, न शहर। लहेरियासराय ऐसा कुछ भी नहीं था, जो उन्हें प्रिय लग सके।

मैं कारण खोजने लगा था। कारण परिवार में नहीं था। कारण सुविधाओं में भी नहीं था। कारण अनुकूल दिनचर्यादि की बाधाओं में भी नहीं था, जहाँ बाबा रह रहे थे। कारण था दरभंगा का परिवेश। कारण था मिथिला की सांस्कारिक आबोहबा, जिसकी सूक्ष्म तरंगें जैसे महीन तुहिनकण बन-बन बाबा की दिनचर्या पर गिरती थी।

बाबा थक गए थे। उन्होंने कहा, 'तारा बाबू, मैं अब आराम करूँगा।'

हमलोग बाबा को सुला कर लौट आए।

इस खेप की पहली मुलाक़ात में ही यह स्पष्ट हो गया कि बाबा ने मुझे प्रलिमिनरी टेस्ट में पास मान लिया है। दूसरा, यह भी स्पष्ट हो गया कि बाबा की देह धीरे-धीरे उनका साथ छोड़ रही है और इसलिए वे बहुत दिनों तक हमारे साथ रहने वाले नहीं हैं। तीसरा यह कि बाबा अपने वर्तमान से संतुष्ट नहीं हैं।

बाबा के साथ समय बिताने का मेरा नियम था कि मैं उनकी धारा में बहता रहूँ। अपनी धारा में उन्हें बहाने की चेष्टा मैंने कभी नहीं की। कभी उनसे औपचारिक इन्टरव्यू तक का विचार नहीं किया। उन्हें कभी रिकार्ड करने की चेष्टा नहीं की। किसी-किसी बात पर वे स्वयं कहते कि इसे डायरी में नोट कीजिए, इस बात को रिकार्ड कीजिए अथवा 'अपनी डायरी लाइए, मैं लिख देता हूँ', बस इतना ही। हाँ, तो यह मेरा नियम शुरू से ही रहा कि उनके साथ बिताये समय के विवरण को मैं अपनी डायरी में लिख लेता। वह भी मैं साहित्यिक लिहाज से नहीं लिखता था, अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए लिखता था।

उस खेप मैं दरभंगे में दस दिन रह गया। अविनाश बेता चौक पर रहते थे, बाबा खाजासराय में। प्रतिदिन सुबह दो-तीन घंटे बाबा की सत्संगति और कभी-कभार शाम में भी। उद्देश्य एक ही—बाबा के साथ अनंत ब्रह्माण्ड की यात्रा। वे बेहद मज़ेदार क्षण होते। उन दस दिनों के अलावा कई बार दो-चार दिनों का समय निकाल मैं दरभंगा चला ही जाता। उधर से भरा-भरा लौटता और कई रचनात्मक संकल्प के साथ लौटता।

दूसरे दिन जब मैं बाबा के पास पहुँचा था तो तब भी मेरे मन में वही कल की बात उमड़-घुमड़ रही थी—मिथिला से क्यों ऊब गए हैं बाबा? क्यों यहाँ रमते

नहीं हैं बाबा ? बात तो मैं भी समझ रहा था। लेकिन बाबा से सुनने की, उनके विश्लेषण को सुनने की उत्सुकता थी।

उस दिन, कुशल–क्षेम के बाद, जैसे ही मुझे मौक़ा मिला, मैंने कहा, 'बाबा, आज हमलोग मिथिला पर थोड़ी बात करेंगे।'

बाबा हँसने लगे, बोले, 'मिथिला पर क्या बात करेंगे तारा बाबू ? मिथिला राज्य की जो कल्पना है, वह महा झंझटिया है। 'भलमानुस' के लेखक योगा बाबू ने एक बार मुझे कहा कि आप 'जय मिथिला' कहेंगे तो मैं 'जय कोइलख' कहूँगा। आप कहते हैं कि भारत या बिहार मेरे लिए अमूर्त है, मूर्त तो है मात्र वह स्थान, जहाँ हम निवास करते हैं। यह कैसे होगा कि आप कहेंगे कि समस्तीपुर से इधर टपोगे तो तुम्हारी टाँग काट लूँगा...होगा ऐसा ?'

'नहीं बाबा, ऐसा कहीं हो ?'

'और मिथिला राज्य की माँग कौन करते हैं ? ब्राह्मण। सब दिन खाते–पीते रहे हैं और फिर खोड़–खाड़कर खाना चाहते हैं। सत्ता पाने की रणनीति है यह। और मिथिला राज्य का विरोध करते हैं भूमिहार। कायस्थ उदासीन हैं। ऐसे में क्या होगा ? बहुसंख्यक जनता इसमें कहीं नहीं है।'

'लेकिन बाबा, इतिहास में तो मिथिला का स्वतंत्र अस्तित्व रहा है, गरिमापूर्ण।'

'मिथिला का इतिहास कभी गरिमापूर्ण नहीं रहा तारा बाबू। जो ऐसा कहते हैं, झूठ बोलते हैं। झूठ को पिरोकर शास्त्र की माला बना ली गई है। यहाँ के जो राजा हुए, उनकी कैसी प्रवृत्ति रही ? मुसलमान आक्रांता जब आक्रमण करते तो उन्हें कामिनी और कंचन देकर पटा लिया जाता। पाँव पकड़ लिए जाते। जनता कष्ट में है तो रहे। मैं तो सुख में हूँ न ? व्यवस्था जनकल्याणकारी कैसे बनती है ? जनता जो लड़कर प्राप्त करती है, सिर्फ़ वही न जनकल्याणकारी हो सकती है !'

बात स्पष्ट थी। जिन बुद्धिजीवियों के हाथ में जमाने से मिथिला का नेतृत्व रहा है, उस वर्ग से बाबा की असहमति थी। मिथिला के एलीटों की जो ख़ासमख़ास विशेषता रही है, वह जैसी दिखती है, वैसी वस्तुतः होती नहीं है। राजनीति करने वाले लोगों के चरित्र में आज ये चीज़ें हम देख रहे हैं। लेकिन, जैसा कहा जाता है कि जनतंत्र का आदिगढ़ वैशाली था, कि वैसे ही इस चारित्रिक दोगलेपन का उद्‌गम स्थल मिथिला को साबित किया जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में मिथिला की माटी, मिथिला के रस–गंध का देश प्रसिद्ध प्रतीक बाबा नागार्जुन हुए। मिथिला को उनसे जाना गया। वे भी मैथिल ब्राह्मण थे लेकिन, सब दिन अपने को 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' महसूसते रहे। और मिथिला

का ब्राह्मण समाज उन्हें क्या मानता रहा? बाबा साफ़-साफ़ कहते कि, 'दो ही स्थितियों में मैं दरभंगा आकर रहता हूँ—या तो अभाववश अथवा दुर्भाग्यवश। यहाँ के नेताओं को, साहित्यिक मठाधीशों को मैं पसंद नहीं हूँ और ये लोग मुझे पसंद नहीं हैं।'

'आपने बाबा, मैथिली में काफ़ी लिखा। अब भी कहते हैं कि मैथिली में लिखने में काफ़ी आनंद आता है...'

'एकबार एक आदमी ने मुझसे पूछा कि मैं मैथिली में कविता क्यों लिखता हूँ? अरे भाई, अब इसका क्या उत्तर दूँ कि क्यों लिखता हूँ। खाओगे खेसारी और हगोगे कलाकन्द, यह तो नहीं होगा। जिस परिवेश में रहता हूँ, जैसा जीवन जीता हूँ, जैसा संस्कार अर्जित किया, वही न कविता में आएगा। सोऊँगा खढ़ के घर में और सपने देखूँगा नौलखा का, सो कैसे होगा? लेकिन एक बात ज़रूर कहूँगा तारा बाबू, मैथिली का क्षेत्र सीमित है।'

'दूसरी भाषाओं का क्षेत्र सीमित नहीं है बाबा? जैसे उड़िया!'

'हाँ, प्रत्येक भाषा का क्षेत्र सीमित है। उड़ीसा तो यूँ भी छोटा है। लेकिन उड़िया ने इतनी उन्नति कैसे कर ली? असली बात है जनजागृति और राजनीतिक संरक्षण। वह मैथिली को नहीं है। वह जिसे होगा, वह उन्नति करेगा। उड़िया इसीलिए उन्नत है। लेकिन मैथिली 'कोहे के दीप' की तरह है। उसका प्रकाश कोहे तक ही सीमित है।'

बाबा एकदम ठीक कह रहे थे। बात को चाहे कितना भी घुमा-फिरा कर कहा जाय, कितना भी ढँक-तोप कर प्रकट किया जाए, इसके अतिरिक्त और कोई भी बात सच नहीं हो सकती कि मिथिला के क्षेत्र में न तो कभी जनजागृति आने दी गई और न ही राजनीतिक संरक्षण ही इस भाषा को मिला।

लेकिन, मिथिला और मैथिली की संपूर्ण प्राणशक्ति इसके रचनाकार-वर्ग में बसती रही है। विषम से विषम स्थिति में मैथिली में लेखन होता रहा है। और बाबा जैसे रचनाकार ने मैथिली को अपना श्रेष्ठतम समर्पित किया है। मैंने उन्हें यह याद दिलाया, 'आपने अपनी रचनाओं से मैथिली को कितनी ऊँचाई दी है, वह सोचिये। रास्ता तो यहीं से निकलेगा। मेरी समझ से बहुत निराश होने की बात नहीं है।'

लेकिन बाबा ने मेरी बातों को दूसरे संदर्भ में लिया। उससे उनकी नाराजगी प्रकट होती थी। वह बोले, 'मैं मैथिली में लगातार काम करूँ, यह बहुत अच्छी बात। मैथिली की समस्याओं के लिए मैं चिंतित होऊँ, यह सुंदर विचार। लेकिन यह मुझसे संभव नहीं हो पाता तारा बाबू! मैथिली ब्राह्मणवाद के शिकंजे में निश्चेष्ट पड़ी है। महंथ गद्दी पर विराजमान हैं और उनके चेले-चाटी लूटमार मचाए हुए हैं। इसमें मैं ठठ पाऊँगा? कौन हो-हल्ला करता रहे? चुपचाप हट गया।'

बाबा मैथिली के विषय में ये बातें कह रहे थे लेकिन मैं समझ रहा था कि दरभंगा की मैथिली की गतिविधियों की वे ख़बर ले रहे हैं। किसी अन्य प्रसंग पर, दूसरे समय में अगर बातें होतीं तो कई सकारात्मक चीज़ें उनकी नज़रों में आतीं। लेकिन, अभी तो जो बाबा थे, वही बहुत सुंदर थे।

एक दिन बाबा ने मुझसे पूछा, 'आपने शादी की तारा बाबू?'

मैंने कहा, 'शादी तो मेरी बहुत पहले ही हुई बाबा। पटने में जो मैं आपके साथ था, उससे भी पहले।'

'इधर फिर की है?'

ओ? तो ऐसी बात है? बाबा तक भी यह बात पहुँच गई? जीयो रे मैथिल वीर!

हुआ यह था कि डिप्टी कलक्टरी ज्वाइन करने पर मेरे कार्य की प्रकृति बदल गई थी। काम भी बढ़ गया था। सो, थोड़े दिनों के लिए मेरी साहित्यिक गतिविधि भी कम हो गई थी। तीन महीने पर होती थी कथा गोष्ठी, 'सगर राति दीप जरय।' इन गोष्ठियों में मैं मुखर होकर भाग लेता था। सो, वह गोष्ठी हुई बोकारो में। उसमें मैं नहीं जा सका। वहाँ बुजुर्ग साहित्यकारों ने मेरी खोजबीन की कि वियोगी नहीं आए? बस, किसी मखौलिये युवा लेखक ने जवाब दिया कि भई वह कैसे आएँगे? आज ही तो उनकी शादी का दिन है। अपनी प्रेमिका से शादी कर रहे हैं जमालपुर गायत्री मंदिर में। मुझे भी बुलाया था, नहीं जा सका, इसलिए यहाँ आ गया। देखिये न प्रदीप बिहारी आए? देवशंकर नवीन आए? ये सभी जमालपुर में ही होंगे...।

अत्यंत विश्वसनीय तरीक़े से इन बातों को रखा गया था तो स्वाभाविक था कि कानों-कान यह बात पूरे वायुमंडल में फैल गई। निंदारूपेण संस्थिता! मैं काफ़ी चर्चित हो उठा। यह मेरे जीवन का दूसरा अवसर था, जब मेरा नाम मैथिली के एक-एक आदमी की जुबान पर था। पहला अवसर बीत चुका था—कोशी कुसुम कांड, जिसका विवरण मैं पीछे लिख चुका हूँ।

अब ऐसी भी बात नहीं थी कि मेरी प्रेमिका कोई थी ही नहीं। लेकिन वह जो कोई भी थी, मैथिली लेखकों की 'कान ले भागापन' से काफ़ी आनंदित हुई होंगी।

तो वही बात बाबा तक भी पहुँच गई थी। मैंने उन्हें छिलका छुड़ाकर सारी बातें कह डालीं। क़िस्सा सुन बाबा भी बड़े आनंदित हुए। वे कहने लगे, 'लोगों में एक विचित्र बात होती है। आप किसी का गुण उनके सामने बयान कीजिए तो वे आपसे प्रमाण माँगेंगे। जिरह करेंगे। और अगर किसी का अवगुण बताइए तो फौरन

यक़ीन कर लेंगे। किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं। कोई तर्क नहीं, ऐसे निंदारस प्रेमी होते हैं...।'

फिर बाबा कहने लगे, 'एक बार ऐसा हुआ तारा बाबू, गांधीजी के पास जाकर किसी ने माखनलाल चतुर्वेदी की ढेर सारी निंदा कर दी। ढेर सारी कहिए कि एक गाड़ी, उतनी निंदा। माखनलाल जी जब मिले तो गांधीजी ने उन्हें घेरा—ये सब क्या सुन रहा हूँ, माखनलालजी! ये सब तो भारी आपत्तिजनक बातें हैं आदि-आदि। तो जानते हैं, माखनलालजी तो बड़े स्पष्टवादी थे। कहने लगे गांधीजी को कि बापू, आपके कान बड़े मुलायम हैं, बड़े लुरगुज हैं। लोग इन्हें चबाते रहते हैं। तो, यही स्थिति होती है। मिथिला की दुर्गति तो पूछिए मत!'

एक दिन बाबा कहने लगे, 'अगर आपको चार बेटे हों तारा बाबू, तो उन चारों के लिए अलग-अलग सोचिए।'

मैंने कहा, 'मुझे तो दो बेटे हैं बाबा, अभी छोटे-छोटे हैं।'

बाबा बोले, 'तो कम ही हैं। आदर्श संख्या मैं चार मानता हूँ। और बाबा हँसने लगे—चार रहने पर हिसाब ठीक बैठता है। एक बेटे को तो गाँव में रखिए, पुश्तैनी संपत्ति की वह देखरेख करे। गाँव को उजड़ने नहीं दे। मूल जगह को आबाद रखे। दूसरे-तीसरे को आइएएस, आइपीएस में दीजिए। एक बेटा सेना में जाए।'

'और दो बेटों का हिसाब कैसे बनेगा बाबा!'

'दोनों को ख़ूब पढ़ाइए-लिखाइए। अभी ही सैनिक स्कूल में दे दीजिए। बड़े होने पर आइएएस बनाइए। एक बेटे को गाँव-घर सौंप दीजिए।'

'अभी तो बाबा, समाज में चलन है कि बेटे को नेता बनाओ! नेतागिरी लाइन में बढ़ाओ।'

'नहीं, नेता नहीं बनने दीजिए। नेतागिरी का काम फटीचरी का धंधा है। नेता जिसे कहा जाय, वह मिलता है कहीं? एक क़िस्सा सुनाता हूँ, सुनिए!'

और उसके बाद बाबा ने जो क़िस्से सुनाए, उसका अद्‌भुत ऐतिहासिक प्रसंग है। वह क़िस्सा बाबा के आगामी उपन्यास का कथासार था। जब बाबा ने यह क़िस्सा सुनाया था तब लगा था कि उन्हें अवसर मिला तो जल्दी ही बाबा यह उपन्यास लिख लेंगे। जितनी रचनात्मक उत्तेजना देना संभव था मुझसे, क़िस्सा सुनने के बाद मैंने बाबा को दिया था। आज जब बाबा नहीं हैं, स्पष्ट है कि वह उपन्यास नहीं लिखा जा सका।

बाबा क़िस्सा सुनाने लगे, 'उपन्यास का नायक साइंस के प्रो़फ़ेसर हैं। जवाबदेही वाला पद है। मान लीजिए कि विभागाध्यक्ष या प्रिंसिपल हैं। सो, वह गाँव से बाहर शहर में रहते हैं। अकेला भाई। पिता मर चुके हैं। विधवा माँ है, बूढ़ी। पुश्तैनी संपत्ति भी काफ़ी है। मान लीजिए कि काफ़ी उपजाऊ पचास-सौ एकड़ खेत। पढ़ा-लिखा शहर में ही और उधर ही नौकरी में चला गया। शुरू-शुरू में गाँव-घर आना-जाना होता रहा। मान लीजिए कि महीना-महीना आता। फिर धीरे-धीरे यह कम हो गया। दो महीने में एक बार। फिर चार महीने पर, छह महीने पर। शहर में रहने की तो अपनी शैली होती है न। झंझटों से भरा होता है शहरी जीवन। फिर उसकी पत्नी थी, बाल-बच्चे थे। बच्चे का भविष्य, पढ़ाई-लिखाई। पत्नी की शौक-सिहन्ता। सो कहता हूँ तारा बाबू, उसका ग्रामागमन धीरे-धीरे बहुत कम हो गया।'

'जी, ऐसा तो होता ही है।'

'हाँ होता ही है। सो एक बार क्या हुआ कि बहुत दिन पर वह गाँव आया। उसका जीवन तो व्यापक था, नाना प्रकार का विस्तार था उसके जीवन में। लेकिन उसकी विधवा माँ के लिए तो बस वही था। उसका दुख देखिए। गाँव-घर में कई विधवाओं को आप देखेंगे कि ऐसी स्थिति में वह गिरथाइन बनी टर्र रहेगी। लेकिन वह बूढ़ी तो वैसी थी नहीं। रात जब बेटा खा-पीकर निश्चिन्त हुआ तो बूढ़ी उठी और घर से हँसिया उठा लाई। माँ के हाथ में हँसिया देख बेटा चकित रह गया।'

'जी, बेटा चकित कि इतनी रात गए हँसिया!'

'तो माँ ने हँसिया बेटे के हाथ में दिया। कहने लगी—लो, इसी हँसिये से मेरी गरदन काट दो और चैन से जाओ। मेरे ही कारण तुम्हें गाँव जाना-आना पड़ता है। न रहेगा बाँस न रहेगी बाँसुरी। तुम भी आराम से रहोगे। अब बेटा तो बड़ी मुसीबत में फँस गया। समझदार आदमी! वह सारी बात समझ गया। कोई व्यक्ति जब भयानक कष्ट में रहेगा, तब ही न ऐसा प्रस्ताव देगा! यह बात प्रो़फ़ेसर समझ गया। माँ कहने लगी कि तुम्हें तो बाप-दादा की इतनी अर्जित संपत्ति है कि पाँच-दस नौकरों को तुम ही खटवाओगे और तुम ख़ुद नौकरी करते हो!'

'वाह, अत्यंत प्रभावशाली तरीक़े से बूढ़ी ने अपना प्रस्ताव रखा'—मैंने टीप दी।

'हाँ, प्रभावशाली तरीक़े से। और उसका ज़बरदस्त प्रभाव भी हुआ। प्रो़फ़ेसर ने संकल्प ले लिया कि बस बहुत हुआ। अब नौकरी छोड़ गाँव में ही रहूँगा। लेकिन सोचने और करने में तो बहुत अंतर होता है न! उसने माँ से छह महीने का समय

लिया। कहा कि रिजाइन करूँगा और चला आऊँगा। लेकिन चला आऊँगा, यह तुरंत तो होगा नहीं। पूरी व्यवस्था के साथ आएगा न...'

'हाँ, नौकरी छोड़ने की अपनी औपचारिकता होती है न। फिर शहर से गाँव आने की पूरी व्यवस्था...'

'व्यवस्था क्या, कर्मकांड कहिए उसे! सो, प्रो.फ़ेसर ने क्या किया कि अपनी पत्नी को गाँव छोड़ आया। अब, गाँव के लोगों ने देखा कि पहले तो दो-चार दिन किसी तरह पत्नी गाँव में रह पाती थी, लेकिन अबकी तो दो-चार महीने बीत गए। लोगों के कान खड़े हो गए।'

'कान खड़े हो गए, क्यों?'

'गाँव के लोगों को नहीं पहचानते? अबला बूढ़ी रहती गाँव में कोई रोकने-टोकने वाला तो था नहीं! दो बोझ खेसारी ही काट लाएगा। दस धूर ज़मीन ही दबा लेगा। और प्रो.फ़ेसर तो हैं गाँव से उदासीन। बूढ़ी मरेंगी तो ये खेत-पथार का क्या होगा? जैसे-तैसे, खेत तो होगा इन्हीं सब का! इसलिए कान तो खड़े होंगे ही कि भाई बात क्या है? आज पत्नी आई है, कल कहीं ख़ुद भी न पहुँच जाए!'

'वाह, बहुत सुन्दर बाबा!'

'और वह मर्दे तो सचमुच पहुँच गया। और प्रो.फ़ेसर कोई भावुक प्राणी नहीं है। वह साइंस पढ़ाकर आया है। इसलिए वह कठिन संकल्प के साथ आया कि उसे गाँव में ही रहना है। हाँ, कुछ दिनों तक तो ठीक-ठाक चला, लेकिन बाहर के लोग आकर गाँव में चैन से रह लें, ऐसा गाँव अब थोड़े ही रह गया है। लगे सभी उसे तंग करने। गाँव में बूढ़े-बुजुर्गों ने पहला मोर्चा लिया। पढ़ा-लिखा आदमी गाँव आकर रहने लगे तो उनके धंधे तो चौपट हो ही जाएँगे। और नए नेतावर्ग, मुखिया, सरपंच आदि तो हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गए। झंझट खड़ा कर दें। झूठ-मूठ के मुकदमे में फँसा दें। तंग आकर उसने भी प्रतिकार की सोची। जिलाधीश से मिलकर सारी बातें बतायीं। अंचलाधिकारी तो समझिए उसका मित्र ही हो गया। अब इन बातों के लिए भी गाँव के लोग हिंसालु हो गए कि पहले यह प्रो.फ़ेसर यहाँ नहीं था, तो दारोगा भी, अंचलाधिकारी भी उन्हीं के दरवाज़ें पर आते थे, अब सभी प्रो.फ़ेसर के यहाँ जाते हैं...'

'हाँ, लेकिन प्रो.फ़ेसर ने सबका प्रतिकार किया?'

'सिर्फ़ प्रतिकार ही नहीं। दरभंगा जाकर उसने एक ढोल, झाल, करताल ख़रीद लाया। और गाँव की जो सार्वजनिक जगह थी मान लीजिए पीपल का पेड़, तो उसके

नीचे प्रतिदिन शाम को कीर्तन–भजन होने लगा। वह दो–चार रुपए का लड्डू–पेड़ा ख़रीद लाता, रोज़ प्रसाद चढ़ाता। नौजवानों की भीड़ जुटने लगी।'

'वाह, अद्‌भुत विन्यास!'

'धर्म जो है तारा बाबू, वह मात्र अफीम ही नहीं है। वह अमृत भी है। आप अपनी डायरी में इस बात को लिख लीजिए। धर्म अफीम है तो अमृत भी है। अब आप कहेंगे कि वहाँ सिर्फ़ भजन–कीर्तन ही होता था, तो सो नहीं। वह उद्‌बोधन करता था, अपने विचार भी प्रकट करता। गाँव की दशा कैसे सुधरेगी, उसकी रणनीति बनती थी। और आप चुपचाप सहते रहेंगे, उससे तो स्थिति बदलेगी नहीं। कुछ तो करना ही होगा।'

'एकदम। बिना कुछ किए स्थिति कैसे बदलेगी?'

'हाँ, तो यही मेरे उपन्यास की कहानी होगी। अंत में यह रहेगा कि मुखिया का चुनाव आया। उसने हरामियों का विरोध किया। पूरे गाँव के युवा उसी के साथ। वह हो गया नेता! मान लीजिए कि गाँव का मुखिया बना, एम.एल.ए., एम.पी. बना!'

इस कहानी को मैंने पूर्व प्रसंग से जोड़कर कहा, 'ऐसे नेता अब कहाँ मिलते हैं?'

समापन करते बाबा ने कहा था, 'हाँ तारा बाबू, आज नेता का असली काम है विष्ठाशोधन। जिनमें यह पौरुष हो, उन्हें ही इस लाइन में आना चाहिए।'

एक दिन जब हमलोग बाबा के पास पहुँचे तो वे मैग्नीफाइंग ग्लास की सहायता से अख़बार पढ़ रहे थे। बहुत ध्यान से पढ़ रहे थे। नजदीक आकर देखा कि क्या पढ़ रहे हैं तो मालूम हुआ कि पाठकीय मंच स्तंभ में एक पाठक का विचार पढ़ रहे हैं।

'आइए आइए, तारा बाबू! और अविनाश जी, आप तो जनाब सीधे मेरे पास आकर बैठिए। सलीके से ज़रा दरस–परस हो जाए।'

फिर बाबा अख़बार के बारे में कहने लगे, 'पाठकीय स्तंभ पढ़ रहा हूँ। वही आत्महत्या वाला प्रसंग। भाई, आत्महत्या अपराध नहीं है, यह बताना आपको क्यों ज़रूरी लगने लगा? क्या नीयत है आपकी? लोग तो आपकी नीयत भाँप रहे हैं।'

उसी साल, 1994 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक महत्त्वपूर्ण फ़ैसले में भादवि की धारा 309 को निरस्त कर दिया था। उसके अनुसार अब आत्महत्या दंडणीय अपराध नहीं रह गया था। इस बात को लेकर पूरे देश के बौद्धिकों में विचारोत्तेजना पैदा हुई थी। पक्ष–विपक्ष में अनेक विचार अख़बारों में छपते। यह ठीक–ठीक याद

नहीं आ रहा कि यह विचारोत्तेजना सर्वोच्च न्यायालय के फ़ैसले के बाद उत्पन्न हुई थी या उसके पहले से व्याप्त थी। लेकिन, काफ़ी उत्तेजना हुई थी।

बाबा कहने लगे, 'ये जो मीडिया वाले हैं तारा बाबू, इनको समझना चाहिए कि ये आम जनता के विचारों को अपने स्तंभों में अधिक से अधिक जगह दें। इससे उनकी साख बनेगी। बाज़ार बनेगा। आम जनता से कटोगे भाई तो तुम फल-फूल नहीं सकते। जानते हैं, एक बार क्या हुआ कि अमर जी (मैथिली के प्रसिद्ध लेखक पं. चंद्रनाथ मिश्र अमर) से मेरी मुलाक़ात हो गई। वो तो ठहरे पुरातनवादी गुफा के आदमी। लेकिन देखता क्या हूँ कि वे 'जनसत्ता' पढ़ रहे हैं। क्यों भाई, आप 'जनसत्ता' क्यों पढ़िएगा? आप तो 'नवभारत' पढ़िए। आपके पं. विद्यानिवास संपादक हैं। आपकी भावना तो वहाँ से जुड़ी हुई है। तो जानते हैं, अमरजी क्या बोले कि 'नवभारत' समाचार तो देता है, लेकिन उससे मन नहीं भरता। व्यापक पाठकवर्ग की अंतर्दृष्टि जानने का माध्यम तो 'जनसत्ता' ही है। तो यही बात होती है।'

बाबा ने अख़बार अविनाश के हाथ में दिया। अविनाश उन्हें संपादकीय पढ़कर सुनाने लगे। फिर और बातें हुईं। अख़बार के पन्ने उलटते अविनाश ने कहा, 'बाबा, देखिए। अपने लोगों के बुद्धिवर्द्धन के लिए एक समूचा पृष्ठ दिया गया है। इस पृष्ठ में सरकार की उपलब्धियों का वर्णन है।'

और सचमुच बाबा को उस विज्ञापन पृष्ठ को देखने की उत्सुकता हुई। मैग्नीफाइंग ग्लास से उन्होंने पूरे पृष्ठ को देखा। विज्ञापन पढ़कर बाबा हँसने लगे। कहा, 'विज्ञापन की कला क्या है तारा बाबू, जानते हैं! झूठ बोलने की अदा है। जिसमें जितनी सफाई से झूठ बोला जाए, उतना ही अच्छा विज्ञापन। अरे भाई सरकार, आपने बहुत काम किया तो आपको बताने की क्या ज़रूरत है? और वह भी इतनी व्यग्रता से? जनता क्या अंधी है? आप कार्य करेंगे तो लोग देखेंगे नहीं?'

फिर बाबा बोले, 'सारी पत्रिकाएँ आप देखेंगे, इन असत्य प्रलापों से भरी रहती हैं। विहिप, भाजपा, आरएसएस वग़ैरह के जो पार्टी अख़बार हैं, मैं तो सभी को पढ़ता हूँ समय-समय पर, तो उनमें भी आपको एक से एक विज्ञापन मिलेंगे। रद्दी-रद्दी विज्ञापन! आपको मालूम है, गांधीजी की जो 'हरिजन' पत्रिका थी, उसमें कोई विज्ञापन नहीं होता था। आप में अगर दम है तो ऐसा करके दिखाइए। मगर, पाठकों पर तो भरोसा है नहीं, भरोसा सेठों पर है। चार ही पेज का अख़बार हो, पर उसमें कोई विज्ञापन नहीं हो। पार्टी के समाचार, लेख आदि हों, पर ऐसा करेंगे नहीं...।'

फिर बातें बढ़ते-बढ़ते हिंदी पर आ गईं। मिथिला में जैसी हिंदी बोली जाती है, उस पर बातें हुईं। हिंदी उच्चारण में बिहारीपन की जो अपनी लचक है, उस

पर भी थोड़ी बातें हुईं। तब बाबा बोलने लगे, 'बाहर जाने पर लूज हिंदी बोली जाय तो सुनने वाला फौरन सवाल करता है—आप बिहार के हैं? इस पर झेंप होती है! हम दोयम दरजे के समझे जाते हैं। इसी कारण से मैं घर में बच्चों के साथ हिंदी भी बोलता हूँ।'

मैं बाबा को अपना एक संस्मरण सुनाने लगा, 'बिहार की स्थिति तो बहुत ही खराब है बाबा। मैं जब केंद्रीय विद्यालय में था, तब की एक कहानी कहता हूँ। ग्यारहवें क्लास में मैं हिंदी पढ़ा रहा था कि एक लड़की शिकायत लेकर आई। कहने लगी—सर, उसने मेरा किताब ले लिया। मैं तो गुम रह गया। ग्यारहवीं की छात्रा है और अपने हिंदी शिक्षक से कह रही है—उसने मेरा किताब ले लिया! मैंने उससे पूछा—तुम्हें पता है बेबी, किताब स्त्रीलिंग है या पुलिंग? उसने कहा—जी, पता है। स्त्रीलिंग है। तो मैंने पूछा कि अगर स्त्रीलिंग है तो तुमने ऐसा क्यों कहा कि 'मेरा किताब ले लिया।' ठीक-ठीक वाक्य तुम क्यों नहीं बोली?'

'तब बाबा, वह लड़की मुझसे कहने लगी कि सर मुझे पता है कि शुद्ध वाक्य क्या होगा। मैं आपको लिखकर दिखा सकती हूँ। मुझे और भी आश्चर्य हुआ—क्यों बेबी, लिखकर दिखा सकती हो, लेकिन बोल नहीं सकती? तो उसने कहा कि आप कहेंगे तो बोल भी सकती हूँ। लेकिन अपने मन से नहीं। अपने दैनिक प्रयोग में रोज़मर्रे में शुद्ध भाषा का प्रयोग वह नहीं कर सकती है! और बाबा, वह लड़की कहने लगी कि सर, शुद्ध भाषा बोलने में शरम आती है। लोग बेवकूफ़ बनाते हैं, सहपाठी मज़ाक़ उड़ाते हैं। सभी कहते हैं कि पंडित बन गई है। अब इसे क्या कहा जाय?'

बाबा ने कहा, 'और इधर इस बुद्धिहीन सरकार को देखिए। त्रिभाषा फार्मूला लागू करेगी। लोग त्रिभाषा सीखें और तीनों भाषा अशुद्ध बोलें और लिखें तो यह बात ठीक नहीं हुई न!'

'हाँ बाबा, एकदम ठीक बात नहीं हुई,' मैंने कहा।

एक दिन बाबा ने मुझसे एक विचित्र प्रश्न पूछ दिया, 'बताइए तो तारा बाबू, घोड़े का सौन्दर्यबोध कब जाग्रत होता है?'

मैं तो भारी फेर में पड़ गया। अश्वविद्या मैंने पढ़ी नहीं। सौन्दर्यशास्त्र भी तरीक़े से पढ़ नहीं पाया। मनुष्य के सौन्दर्यबोध का तो थोड़ा बोध है, क्योंकि स्वयं मनुष्य हूँ लेकिन घोड़े का सौन्दर्यबोध? मैंने हथियार पटक दिया।

'अरे, इतना भारी प्रश्न थोड़े ही है? सीधी तो बात है घोड़े का सौन्दर्यबोध तब जाग्रत होता है, जब वह हरी-हरी घास देखता है। है न?'

मैं प्रसन्न हो उठा, 'हाँ बाबा। ठीक कहा आपने। हरी घास देखा कि उसका मूड बन गया।'

'हाँ, इसे आप 'घास, घोड़ा और सौन्दर्यबोध' शीर्षक से लिख लीजिए।'

'जी।'

'घोड़े को आप ख़ूब सजा दीजिए। एकदम टीपटॉप। उत्तम रीति से उसके बाल छाँट दीजिए। और उसे आइना दिखाइए। उस पर क्या असर पड़ेगा? अपना सौन्दर्य देख उसे कैसा लगेगा? कैसा भी लगेगा?'

'मेरी समझ से तो कैसा भी नहीं लगेगा। आइना देखने का तो उसे बोध ही नहीं है और सौन्दर्यबोध की तो बात ही छोड़िए।'

'और हरी-हरी घास देख ले, तब?'

'ओह! तब तो क्या कहने हैं।'

'तो मैं कहता था तारा बाबू कि पाखंडी प्रकार के लोग जो समाज में फैले हुए हैं, साहित्य और आर्थिक क्षेत्र में तो और भी ज़्यादा, उनलोगों के साथ भी यही बात है...।'

'कंबल ओढ़ लेंगे और तब घी पीएँगे।'

'गंगा में उतर जाएँगे और तब मूतेंगे।'

'हा हा हा...।'

बाबा कितनी सही बात बोल रहे थे। पाखंडी वर्ग अपनी स्वार्थ साधने में कितने एकनिष्ठ होते हैं। साधारण लोग अपने लक्ष्य के प्रति कभी क्या इतने एकाग्र हो पाते हैं? घोड़े की तरह वे सिर्फ़ अपने खाद्य के प्रति सौन्दर्यबोध रखते हैं, यह क्या संभव है साधारण लोगों से? लेकिन उस दिन हमने इन बातों पर भी विचार किया था कि ऐसी एकनिष्ठता प्राकृतिक भी तो नहीं है। कहा जाय कि प्रकृति-विरुद्ध है। यह आख़िर कैसे प्राकृतिक हो सकती है कि जीवन के अनेक रंगों में से लोग किसी एक ही रंग के प्रति संवेदनशील हों?

शोभा भाई की बड़ी लड़की ऋचा की शादी की बात चल रही थी। शोभा भाई उसमें लगे हुए थे। कन्यादान-प्रसंग में मैथिल ब्राह्मणों के जो रंगताल हैं, वे जगप्रसिद्ध हैं। ब्रह्मदेव पूरे जन्म की लिप्सा एक ही बेटे की शादी में पूरी कर लेना चाहते हैं, जबकि राजपूत या भूमिहारों की तरह साधन-सम्पन्नता इस जाति को सामान्यतः प्राप्त नहीं है। शोभा भाई बहुत परेशान थे। मुझे लगा कि बाबा का यह 'घोड़ा, घास और सौन्दर्यबोध' का प्रसंग सीधे वहीं से उद्‌भूत था।

इसका अंदाज़ा हुआ अगले प्रसंग से। थोड़ी देर चुप रहकर, थोड़ी देर दूसरी संक्षिप्त बातचीत के साथ बाबा बोले, 'इनकी (ऋचा की ओर संकेत कर) शादी होने वाली है। इनकी सास जो होंगी, उन्हें इनके ये बाल (छोटे बाल, बाब्ड) पसंद नहीं हैं। उन्होंने कहलवाया कि लड़की के बाल बड़े करवाइए। इधर शोभाकांत जी जो हैं, उन्हें लंबे बाल पसंद नहीं हैं।'

'और बाबा, आपको? कैसे बाल पसंद हैं?'

'शोभाकांतजी की पसंद मेरी पसंद समझिए। छोटे-छोटे बाल हों! ऐसे बाल हों कि जो दिनचर्या के कार्यों में बाधा पैदा न करें। आज की लड़की तो वो पुरानी लड़की नहीं है न, जिसका एकमात्र काम अपनी रूपराशि से पुरुष को आकृष्ट करना था। जमाना बदल गया। आप भी बदलेंगे न? नहीं, तो पीछे छूट जाएँगे। एड़ीचुम्बित केश अब नहीं चलेगा। 'चिकुर बहय जलधारा' का समय बीत गया!'

उस दिन बाबा विवाह-संस्था से बहुत नाराज थे। रह-रहकर बात वहीं चली जाती थी। अधिकतर ऐसा होता है कि लोगों के जीवन का अपना घनीभूत दुख दूसरों के बहाने कोई प्रसंग पाकर निकल जाया करता है। इसीलिए कई बार आप देखेंगे कि अगर बाह्य संसार की किन्हीं पद्धति पर, किसी परिस्थिति पर आक्रोश कर रहे हैं तो कहीं न कहीं सूक्ष्म रूप से आप अपने ही दुख को अभिव्यक्ति कर रहे होते हैं। ईमानदार लोगों के साथ तो ऐसा होता ही है। अब अगर आप किसी मठ की ओर से बोल रहे हों, जहाँ आपकी निजी अनुभूति से मठ की नीति का मेल नहीं खाता हो, आप स्वयं को दबा कर मठ का पक्ष प्रस्तुत करते हों, तो यह अलग बात है।

बाबा को जैसा कि मैंने देखा, जो कुछ भी वह बोलते थे, जिस किसी भी मुद्दे पर वे अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे, चाहे क्षेत्रीय हो या राष्ट्रीय, चाहे अंतरराष्ट्रीय, अगर उनके वक्तव्य से चमत्कृत न होकर आप उस बात को आगे बढ़ाते और अगर बाबा मूड में होते, तब वे जो दृष्टांत देते वह उनका अनुभूत, देखा-भोगा होता था। ऐसे वीर पुरुष लेकिन कम थे जो बाबा को इतनी दूर तक किसी एक प्रसंग पर केंद्रित कर रख सकते हों। मैं तो ऐसा वीर कतई नहीं था। हाँ, एकाध बार, नहीं-नहीं, दीर्घ अवधि में ऐसी घटना मेरे साथ कई बार घटित हुई है और इसलिए इस बात को मैं बहुत प्रामाणिकता के साथ कह सकता हूँ।

अब यह बात एकदम भिन्न है कि किसी व्यक्ति की निजता का परिक्षेत्र कितना व्यापक है—कितना सीमित या कितना विस्तृत। घोड़ा वाला सौन्दर्यबोध सिर्फ़ घोड़े को ही होता होगा, ऐसा कतई नहीं है। यह मेरे जैसे हज़ारों लोग जानते हैं कि बाबा

की निजता का परिक्षेत्र अत्यंत व्यापक, बहुप्रसारगामी था। ऐसा नहीं सोचा जा सकता था कि अगर तारानंद वियोगी को कोई पीड़ा है तो वह पीड़ा वियोगी की ही है। बाबा का सुदूर संवेदी अनुभूति-यंत्र बहुत सेंसिटिव था। सिर्फ़ आभिमुख्य ही उसके लिए ज़रूरी होता था।

उस दिन बाबा ने विवाह-संस्था पर जैसी टिप्पणी की थी—नहीं, ठहरें, मैं थोड़ा और समय लूँगा। पचासी-नब्बे की उम्र में थे बाबा। बड़े-बड़े क्रांतिकारी हुए अपने देश में जिन्होंने अपनी नौजवानी में क्या-क्या न करने की घोषणा की, किस चीज़ को न पटका-तोड़ा, लेकिन हमलोग साक्षी हैं कि जब क्रांतिकारी महोदय का चौथापन आया तो वह हारे को हरिनाम गाने लगे। लौट गए रामराज्य में। लौट गए कर्मकांडीय नाटक-प्रहसन में। अपने इस महान देश का अतीतोत्खनन कर जगद्गुरु साबित करने का पुरज़ोर प्रयास किया। वे सभी चीज़ें परमसत्य हो गईं उनके लिए जो कि इस महान देश के सुव्यवस्थित ब्राह्मणवाद ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए प्रचलित किया था।

और एक यह थे अपने बाबा! चौथेपन की कौन कहे, जीवन के नवें दशक में चल रहे थे! अब भी प्रतिहिंसा ही उनका स्थायीभाव था और जनता ही उनकी प्रतिबद्धता। आबद्ध अगर किसी ने किया था उन्हें, तो वह मानव-राग ही था। पूछता, 'बाबा, आपने तो लिखा था 'कल्पना के पुत्र हे भगवान!' अब कहिए, अब उन्हें क्या मानते हैं?' हँसने लगते बाबा। एकदम झिलमिल पारदर्शी हँसी। ज्यों-की-त्यों घर दीन्हीं वाली हँसी। कहते, 'कल्पना का पुत्र तो वह अब भी हैं तारा बाबू। अपने माता-पिता को कोई कैसे बदल ले? तब हाँ, मेरे लिए तो समझिए मनोरंजन का बड़ा साधन है। और, एक गुण तो नहीं भूलूँगा। लाख-लाख पिशाचों को जो वह कुकर्म-दुष्कर्म-अपकर्म करने का लाईसेंस देते हैं तो दो-चार लोग ऐसे भी होते हैं जो उनके ही नाम पर मानवता के दीप जलाए रखते हैं, आस्था बचाए रखते हैं जीवन के प्रति।'

मुझे लगता है कि कई बिंदुओं पर उन्होंने अपनी राय बदली। ज्ञानलव दुविदग्ध लोगों को यह उनका पतन लगता है। लेकिन, कई ऐसे लोग हैं जो उनकी इंगिति की संवेदना तक पहुँचे। ऐसे लोग आपको कह सकते हैं कि असल में बाबा उत्तरोत्तर अधिकाधिक क्रांतिकारी होते गए। किसके पक्ष में वे क्रांतिकारी हुए? वे जीवन के पक्ष में, जीवन-संरक्षण के पक्ष में क्रांतिकारी हुए।

तो उस दिन की बात। बाबा कहने लगे, 'जीवन में जितनी ऊर्जा होती है तारा बाबू, अथाह-अनंत होती है, लेकिन उसका सत्तर प्रतिशत अंश अकेले ही वैवाहिक

समस्या चट कर जाती है। कस्मै देवाय हविषा विधेम? विवाह देवाय। कन्यादान से ही शुरू कीजिए। आप बेटी के पिता हैं तो आपकी यंत्रणा असीमित है। तुम समान एक तोहि माधव! नहीं?'

'हाँ बाबा, गगनं गगनाकारम्...'

'और, दाम्पत्य जीवन जब शुरू हुआ पति-पत्नी का, तालमेल ही कठिन होता है।'

'एक इस घाट तो दूसरा उस घाट।'

'अधिकांश ऊर्जा तो इसी में ख़त्म हो जाती है। नमक-तेल-लकड़ी से लेकर झगड़ा-फसाद तक...'

'जी...'

'जब बाल-बच्चे हुए तब लगिए उनमें। जवानी भर करते रहिए चिंता कि कैसे वे सुपुरुष बनेंगे—लेकिन सुपुरुष क्या बनेंगे, अपने में ही मेल-मिलाप नहीं रख पाएँगे। लड़ते-भिड़ते रहेंगे। क्यों नहीं लड़ेंगे? वह आपके ही बेटे हैं न...'

'जी, आत्मा वै जायते पुत्रः।'

'हाँ। तो कह रहा था कि इन कर्मकांडों में सत्तर प्रतिशत ऊर्जा स्वाहा हो जाती है।'

'हाँ बाबा। ठीक कह रहे हैं आप, सचमुच स्वाहा हो जाती हैं।'

'तो, मेरी क्या राय है, वह जानेंगे तारा बाबू?'

'क्या बाबा!'

'अविवाहित मातृत्व को पकड़िए। इसे अपना समर्थन दीजिए। इस पर लिखिए। इसे लोकप्रिय बनाने का अभियान चलाइए। समाज से इसे स्वीकृति दिलाइए। इस पर कई लेख आए हैं, देखा होगा आपने।'

इस बात पर मैं थोड़ा चकित, थोड़ा विस्मित हुआ। क्यों? उस समय मेरे मन में यह बात रही होगी कि मैं नब्बे बरस के बुजुर्ग से बात कर रहा हूँ। नहीं, यह याद करने की बात नहीं थी। कतई नहीं।

अविनाश तो इस बात पर उछल पड़े। उनकी उछाल में यह उल्लास था—हमारे बाबा सबसे अच्छे! हमारे बाबा सबसे सच्चे।

लेकिन मैंने पूछा, 'इसके कुछ ख़तरे भी तो हैं बाबा! भारत सा अविकसित देश...'

बाबा थोड़ा उत्तेजित हो गए, 'कब तक कहते रहेंगे अविकसित? विकास के रास्ते क्या हैं, वह नहीं देखेंगे? उपाय नहीं खोजेंगे? ठेकेदार विकास का उपाय हो

सकता है तारा बाबू? और लाल जवाहर विकास योजना? और इंदिरा आवास? और राजीव ज्योति? और नरसिंह पुराण?'

'हाँ बाबा, आप ठीक कह रहे हैं केवल इसी से कैसे हो सकता है?'

'तो आप कहते हैं तारा बाबू कि अविवाहित मातृत्व के ख़तरे हैं। हाँ, ख़तरे तो हैं ही। लेकिन यह भी तो देखिए कि वैवाहिक व्यवस्था से कम ख़तरे हैं या ज़्यादा! मुझे तो लगता है कि कम ख़तरे हैं। लोगों को अपरिचित लगता है तो यह बात दूसरी है! वैवाहिक व्यवस्था आपको सुरक्षित और ग़ैर-ख़तरनाक क्यों लगती है? इसलिए न कि आपने इसे स्वीकार कर लिया है और बंधन में बंध गए हैं।'

'जी बाबा, भ्रष्टस्य कान्या गतिः ?'

'हाँ, कान्या गतिः ?'

इस तरह इस प्रसंग का समापन हुआ था।

बिहार विधानसभा का चुनाव उसी वर्ष हुआ था। पूरे बिहार में सामाजिक न्याय का धकापेल चल रहा था। अरुण कमल ने अपनी चर्चित कविता 'असत्य के प्रयोग' में बिना मुंडेर की छत से व्यस्त सड़क पर आते-जाते लोगों के सर पर पेशाब करने का जो बिम्ब रचा था, यह वही दौर था। वह लेकिन एक तरफ़, दूसरी तरफ़ 'सामाजिक न्याय' आम बहुसंख्यक जनता में अंगीकृत हो रहा था। युग-युग से अपमानित-प्रताड़ित जनसमूह इसे अपनी मुक्ति समझ कर धारण कर रहा था। मुख्यमंत्री थे लालू प्रसाद। विधानसभा में उनकी स्थिति थोड़ी कमज़ोर तो ज़रूर थी, लेकिन बहुसंख्यक आम जनता की आँखों में जिस अन्यायमुक्त सामाजिक न्याय के सतरंगे सपने (स्वर्णिम भविष्य की तरह) नाचने लगे थे, उसे मुख्यमंत्री ने भाँप लिया था और उनकी वह घोषणा पूरे देश में चर्चित हो गई थी कि वे लगातार बीस वर्षों तक राज करेंगे।

सो, एकदिन बाबा के साथ बातचीत होने लगी तो केंद्र में यही बातें थीं। शुरू किया था अविनाश ने कि बाबा, आपने सभी राजनेताओं पर कविता लिखी। लालू यादव पर क्यों नहीं लिखते?

बाबा मुस्कुरा उठे। तब वे मेरी ओर मुखातिब हुए, 'देखिये तारा बाबू, लालू पर जो मैं कविता लिखूँ, तो यह बड़ी अच्छी बात। लेकिन 'लालू' का तुक मिलेगा किससे? भालू से, आलू से, बालू से, इसी सबसे न...।'

'जी बाबा, इन्हीं से मिलेगा।'

'तो वह कविता लालू का यथार्थ चित्र नहीं रख पाएगी।'

फिर वे अविनाश को कहने लगे, 'अभी मुझे और समय चाहिए अविनाश जी, मैं उन्हें अभी और मौक़ा दूँगा।'

और फिर वे मेरी ओर मुड़े, 'लालू तो ऐसा कुछ भी नहीं कर रहा है जो मिसिर जी, झाजी, सिंहजी वग़ैरह-वग़ैरह पहले ही न कर चुके हों। तारा बाबू, आप अपनी डायरी बढ़ाइए तो।'

मैंने अपनी डायरी बाबा के हाथों में दी। उस पर बड़े-बड़े अक्षरों में बाबा ने लिखा, 'कर्णात् जलं जलेनैव, कण्टकैरेव कण्टकान्।'

मुझसे बोले, 'इसका अर्थ बताइए।'

मैंने अर्थ निकाला, 'कान में अगर पानी चला जाए तो उसे और पानी देकर ही निकालना चाहिए। काँटा अगर चुभ जाय, तो उसे काँटे से ही निकालना चाहिए।'

बाबा कहने लगे, 'इसका तात्पर्य? यही न कि विकार को अतिविकार से दूर करना चाहिए। यह जो अपना बिहार है, वह जातिवाद का सुस्थापित गढ़ रहा है शुरू से। आज से ही नहीं, युग-युग-से। जातीय अत्याचार यहाँ के सवर्ण संस्कार में है। वह अत्याचार कर रहा है आप पर और पूछेंगे तो कहोगे नहीं, यह कौन सा अत्याचार हुआ? यह तो सामाजिक परंपरा है। शूद्रों के साथ इसी तरह बोलना चाहिए। शूद्रों के साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए, यह तो शास्त्रों में लिखा है। तो ऐसे अत्याचार के उदाहरण आपको गाँव-गाँव में मिलेंगे, पग-पग पर मिलेंगे। यह विकार कैसे दूर होगा, अतिविकार से ही न?'

मैं आगे कुछ कहता उससे पहले ही बाबा को एक घटना याद आई। वे सुनाने लगे, 'एक बार की बात कहता हूँ। हाल की ही बात है। मैं मधुबनी स्टेशन पर खड़ा था। वहाँ मैंने देखा कि एक भद्रपुरुष एकांत में पेशाब कर रहे थे। वे फारिग होकर आए तो मैंने पूछा—पेशाब करते समय आपने कान पर जनेऊ क्यों नहीं लिया? तो उस भद्र पुरुष ने फुसफुसाते हुए कहा—कान पर जनेऊ लूँगा तो लोग समझ जाएँगे कि ब्राह्मण है। जनेऊ नहीं लेने पर गुंजाइश रहती है...'

हः हः हः, गुंजाइश की खोज शुरू हो गई है।

बाबा रौ में थे। उन्हें एक और प्रसंग याद आया, 'कर्मेन्दु शिशिर की पत्नी हैं शीला। बहुत अच्छी लड़की है। उत्तम संस्कारों वाली। तो एकबार मैंने उससे पूछा कि तुम अपना क्या नाम लिखती हो? उसने कहा—शीला सिन्हा। तो मैंने पूछा—तुम श्रीवास्तव हो! शीला श्रीवास्तव क्यों नहीं लिखतीं? सिन्हा क्यों? श्रीवास्तव क्यों नहीं? वह हँसने लगी कि 'सिन्हा' में ज़्यादा गुंजाइश बनती है आदि-आदि...'

मैंने बात बदलने की चेष्टा की, 'यह तो बाबा, एक पहलू हुआ। दूसरी ओर उधर देखिए तो शूद्रों-दलितों की स्थिति अच्छी नहीं कही जाएगी?'

बाबा ने कहा, 'क्यों नहीं अच्छी कही जाएगी? पहले सिर्फ़ ब्राह्मण दाल-भात खाते थे। अब दलित भी दाल-भात खाते हैं और उसके लिए परिश्रम करते हैं। ब्राह्मण, बेटे की शादी में रुपए गिनाते हैं तो ये भी गिनाते हैं।'

'तो यह कौन-सा अच्छा काम करते हैं?'

'अच्छा या बुरा, यह आप सोंचे। वे तो बदल रहे हैं। हाँ, वर्ग-चरित्र नहीं बदला है। दौर को ग़लत दिशा में मुड़ जाने की आशंका प्रबल है।'

'और उस पर पलायन! अभी तो स्थिति ऐसी है कि नौजवान शूद्र गाँव-घर से जैसे ग़ायब हो गए हैं। जैसे मोर अपने इलाक़े से ग़ायब हो गए बाबा। जिसे देखिये, दिल्ली-पंजाब-भदोही के रास्ते हैं।'

'बहुत कठिन है तारा बाबू! सही आदमी भाग रहा है और बिचौलिया फटकचंद राज कर रहा है। कैसे होगा विकास? किसी दिन आप सुनेंगे कि अमेरिका के किसी धन कुबेर ने पूरे उत्तर बिहार को किराये पर ले लिया...'

'बाप रे, यह तो भयंकर बात कही आपने!'

'और दूसरी ओर, अब भी ब्राह्मणवाद नंगा नाच रहा है। कुछ साल पहले की बात बताता हूँ। मैं गाँव की ओर गया था। रास्ते में प्यास लगी। एक दलित चापाकल पर पानी भर रहा था। मैंने उससे पानी माँगा तो वह मुझसे पूछ बैठा कि आप मेरा छुआ पानी पीएँगे मालिक? मुझे तो बड़ी ज़ोर गुस्सा आया। मैंने उससे पूछा—यह पानी भला तुम्हारा कैसे हुआ? क्या इस पानी को तुमने बनाया है? और उससे मैंने कहा अरे बेवकूफ़, मैं तो तुम्हारे जैसा ही एक आदमी हूँ। तुमसे बड़ा हूँ तो काका, बाबा कहो, लेकिन इस 'मालिक, मालिक' का रट क्यों लगाए हो? ऐसा कब तक करते रहोगे?'

मोतिहारी में मेरा प्रशासनिक प्रशिक्षण पूरा होने को था। इसी बीच तीन महीने के लिए एडमिनिस्ट्रेटिव ट्रेनिंग इंस्टीच्यूट, राँची से भी प्रशिक्षण प्राप्त कर लौट आया। सरकार ने मेरी सेवा राजस्व विभाग को सौंपी। अंचलाधिकारी के रूप में साहेबगंज सदर में मेरी पोस्टिंग हुई। यह संथाल परगना में है। तय था कि चुनाव के बाद मैं अपने नव-पदस्थापित स्थान पर चला जाऊँगा।

इसी समय एक बार बाबा से भेंट करने गया। उस दौर की वह अंतिम मुलाक़ात थी।

बाबा को मैंने अपना सारा समाचार सुनाया। कुछ दिनों बाद साहेबगंज चला जाऊँगा, यह भी बताया। साहेबगंज इलाक़े में कभी उनका काफ़ी आना-जाना था। उनके उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में उस इलाक़े वर्णन हुआ है। वैसे 'पारो' में मोतिहारी का भी वर्णन आया है।

यह सब जानकर बाबा आनंदित हुए।

मैं अंचलाधिकारी हो गया, इस बात ने उन्हें प्रसन्नता से भर दिया। अंचलाधिकारी को वे पक्का अफ़सर मानते थे। जितना काग़ज़ी अफ़सर, उतना ही जनता के बीच संवाद भी। और सबसे बड़ी बात कि पुलिस पर कंट्रोल। जनता के लिए सबसे उपयोगी अफ़सर अंचलाधिकारी—यह बात कहने लगे। मुझे उस समय 'वरुण के बेटे' में किया गया अंचलाधिकारी का चित्रण याद आता रहा।

थोड़ी देर बाद आनंद में बाबा ने कहा, 'तारा बाबू, अब तो आप झारखंडी बन जाएँगे।'

'जी बाबा, झारखंडी बन जाऊँगा।'

'लेकिन कोई बात नहीं, बाबा वैद्यनाथ भी अब झारखंडी बन जाएँगे।'

मैंने कहा, 'वे तो पहले से ही झारखंडी हैं बाबा।'

'नहीं न, पहले से कहाँ हैं झारखंडी ? अब तक तो वे शिखंडी हैं। उनके बहाने कई महंथ माल चाभते हैं। झारखंडी तो वे अब होंगे। उन पर जो चढ़ावा चढ़ेगा, वह अब झारखंड इलाक़े के विकास पर ख़र्च होगा। उसी से स्कूल-कॉलेज-अस्पताल बनेंगे। जैसा तिरुपति में हो रहा है, वैसा ही यहाँ भी होगा। आप तो जानते ही हैं तारा बाबू, देवघर मेरा प्रिय शहर है। अब और भी प्रिय हो जाएगा। आप आगे बढ़िए, मैं पीछे से आता हूँ...।'

बाबा ने जो कहा, 'आप आगे बढ़िए, मैं पीछे से आता हूँ', तो मुझे याद आया। विभिन्न समय में, कम से कम बाबा ने दसियों बार ऐसा मुझसे कहा था। महिषी जाने की इच्छा तो उन्होंने कई बार व्यक्त की थी। तब जमालपुर। और मोतिहारी भी। एक दफा तो मोतिहारी में उनके दिए गए प्रोग्राम के अनुसार एक बड़ा-सा आयोजन रखा गया था। विष्णुकांत पांडेय और शशिरंजन शशि व्यवस्थापक थे। लेकिन ऐन मौक़े पर बाबा बीमार हो गए...। इस तरह, बाबा ने कई बार वचन दिया था, लेकिन एक बार भी पूरा नहीं कर सके। मैं भी ज़ोर नहीं देता था। मुझे लगता था कि अगर बाबा का मन रम गया और कुछ दिन रहने की मौज में आ गए तो उनके लिए प्रीतिकर व्यवस्था कर पाऊँगा या नहीं ? इस बार मुझे लगा कि अब तो ज़रूर कर पाऊँगा क्योंकि साहेबगंज में मैं सपरिवार रहूँगा। मैंने उन्हें उनके वचन-भंगों

की याद दिलाई। बाबा ने कहा, 'इस बार पक्का समझिए।'

फिर दूसरी-दूसरी बातें होती रहीं।

बीच में ही बाबा बोले, 'पैसे वालों को यदि सुबुद्धि देने वाले लोग हैं समाज में, तो उनसे अच्छे-अच्छे काम करवाए जा सकते हैं। पुराने जमाने में यही होता था न! पैसे वाले लोग पोखर ख़ुदवाते थे, कुआँ ख़ुदवाते थे, मंदिर और धर्मशालाएँ बनवाते थे। काम दरअसल नीचे से ही हो सकता है तारा बाबू। हमारे बीच जो पैसे वाले लोग हैं, उन्हें सुबुद्धि देने का काम हमें करना चाहिए। यह भी एक संस्कृति-कर्म है। अब जैसे इन्हें देखिए (अविनाश की ओर इशारा) इन्हें यदि अभी पाँच लाख रुपए मिल जाएँ तो ये क्या करेंगे? बौद्धिकों की रचनाशीलता के ही उपयोग में लाएँगे न? किताबें छपवाएँगे। सेमिनार करवाएँगे।'

मैंने कहा, 'लेकिन बाबा, पैसेवालों की तो समझदारी और प्राथमिकताएँ भी उनकी अपनी होती हैं। सभी पैसे वाले तो ऐसा नहीं करेंगे...।'

'हाँ, सो तो है! इसमें संस्कार की बात आती है। जो संस्कारवान धनी होंगे, उन्हीं पर इसका असर पड़ेगा। अल्फ्रेड नोबेल तो भौतिकवादी वैज्ञानिक थे, मगर संस्कारवान थे तो उन्होंने नोबेल पुरस्कार का प्रवर्त्तन किया।'

बस, इतनी ही बात हुई इस विषय पर। फिर बाबा ने बात बदल दी थी। याद आया कि इसी आशय की बात बहुत दिन पहले बाबा ने मुझे कहा था। हाँ, वह 'कोशी कुसुम' वाला प्रसंग था। उस बार जो उन्होंने कहा था, उसका प्रसंग स्पष्ट था। इस बार जो कहा, वह स्पष्ट नहीं हो रहा था। बिना किसी सुचिन्तित प्रसंग के बाबा कोई बात नहीं बोलते थे। तब यह बात ज़रूर उनकी आदत में शुमार थी कि जो प्रसंग उनके मन में आया, वह आपके सामने बोल देंगे।

अब आप सोचते रहिए कि बाबा ने यह बात किस प्रसंग में और क्यों कही!

अब इस प्रसंग पर विचार करता हूँ तो लगता है कि बाबा सोच रहे होंगे कि तारा बाबू अब अंचलाधिकारी होंगे। अच्छे पैसे मिलेंगे (अफ़सरों को मिलने वाले पैसे को बाबा 'सिग्नेचर-सनिचरा' कहते)। गुरुजी वग़ैरह पहले जिस तरीक़े से सनिचरा वसूलते थे, उसी तरह तो अफ़सर भी महज सिगनेचर कर वेतन वसूलते हैं। बाबा कहते कि काग़ज़ का मुँह काला करने के सिवाय ये हाकिम-हुक्काम आख़िर करते ही क्या हैं। मैं अब इसे इस रूप में लेता हूँ कि यह उन्हें ज़रूर करना चाहिए।

उस दिन मैंने उनसे पूछा था, बाबा, लिखा तो आपने बहुत। अब भी लिखते ही हैं। लेकिन, क्या कभी हूक नहीं उठती कि कोई ख़ास चीज़ लिखना चाहते थे और लिख नहीं पाए। और लगता हो कि शायद अब लिख नहीं पाएँगे?'

और बाबा ने जो मुझे इस प्रश्न का उत्तर दिया था, वह स्वर्णाक्षर में लिखने योग्य है। उन्होंने कहा था, 'धत्! मुझे ऐसा कुछ नहीं लगता तारा बाबू! लगता है कि आप लोग जो लिख रहे हैं, वह सब तो मेरी ही बातें हैं। लगता है कि काफ़ी विस्तृत हो गया हूँ मैं।'

लगे हाथों अविनाश ने भी एक प्रश्न किया था, 'आप तो बाबा, अब भी ढेर सारी पत्रिकाएँ पढ़ते हैं। आपकी सबसे प्रिय पत्रिका कौन-सी है?'

बाबा उसी भावमुद्रा में थे। कहा, 'आपलोग हैं। यह सारी पत्रिकाएँ जो देखते हैं अविनाशजी, यह सब तो विदेह है। आप लोग तो सदेह पत्रिका हैं।'

हमलोग सदेह पत्रिका थे। हमलोग नागार्जुन का आत्मविस्तार थे। हमलोग उनकी फ़ौज थे जो उनकी कल्पनाओं को यथार्थ में तब्दील करते। क्या-क्या न थे हमलोग उनकी दृष्टि में। हमलोग यानी सभी युवा रचनाकार, जिन्हें बाबा दुलार से 'युवक विद्वान' कहते।

मेरे सामने अभी बहुत सारी तस्वीरें पसरी हुई हैं। लगभग दर्जन भर। सारी तस्वीरें बाबा की। किसी तस्वीर में बाबा के साथ मैं तो किसी में अविनाश। किसी में हमदोनों। ज़्यादातर तस्वीरें अविनाश ने ली थीं। कुछ मैंने तो कुछ ऋचा ने।

ये सारी तस्वीरें बाबा के अंतिम दर्शन की स्मृति हैं। 1997 के अंत में उनसे अंतिम मुलाक़ात हुई थी। इस बीच कई बार विभिन्न आयोजनों में, विभिन्न विमर्श के प्रसंग में शोभा भाई ने मुझे बुलाया लेकिन पहुँच नहीं पाया। इस बार अविनाश से पता लगा कि बाबा बहुत बीमार हैं। अविनाश का भी दरभंगा छूट चुका है। इसी दरम्यान शोभा भाई ने अपना डेरा बदल लिया था। अब वे अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित मकान में रहने लगे थे।

हमलोग जब पहुँचे तो भाभी से भेंट हुई। शोभा भाई उस दिन दरभंगा से बाहर थे। भाभी ने बताया कि बाबा तो अब ख़ुद से बैठ भी नहीं पाते। दिन भर लेटे रहते हैं। लोगों से भेंट-मुलाक़ात पर भी डाक्टरों की मनाही है। इंफेक्सन से बचाव के लिए जल्दी उनके कमरे में किसी को जाने नहीं दिया जाता। आप लोग आए हैं—बाबा से अब भेंट क्या होगी, हाँ एक नज़र उन्हें देख लीजिए। लेकिन पहले चाय पीजिए।

ऋचा की शादी हो गई थी और अब वह एक बच्चे की माँ थी। ऋचा ने हमलोगों के लिए चाय बनाई।

भाभी विस्तार से बाबा के स्वास्थ्य और सेवा के बारे में बताने लगीं। मैं बेहद गंभीर था। पोखर के जमे पानी की तरह का गहन सन्नाटा मेरे भीतर पसरा था।

चाय के बाद हमलोग बाबा को देखने गए। चप्पल बाहर ही खोल दिया। कमरा व्यवस्थित और साफ़-सुथरा था। उसमें फिनाइल की भीनी-भीनी गंध फैली थी। बाबा दीवार की ओर करवट फेरे थे। घुड़ीमुड़ी होकर। उनकी वह मुद्रा मेरे लिए सुपरिचित थी। बाबा को दर्जनों बार मैंने इस मुद्रा में देखा था। लेकिन कुल मिलाकर लगा कि नहीं, अब वे बाबा नहीं हैं। कभी लगता कि बाबा का क़द बहुत छोटा हो गया है। कभी लगता कि उनका फैलाव घट गया है, वे सिकुड़ गए हैं।

भाभी उनके पास गईं, बाबा जगे थे। भाभी ने उनसे कहा, 'वियोगीजी आए हैं। अविनाश भी हैं।'

बाबा की देह में हरकत हुई। वे भाभी की मदद से पहले चित्त लेटे फिर हमलोगों की ओर करवट ली।

मेरी आत्मा कलप उठी।

लेकिन हमदोनों को देख बाबा उत्साहित हो उठे थे। उन्होंने भाभी को संकेत किया। अर्थ था कि वे उठकर बैठेंगे। भाभी ने उन्हें सहारा दिया। हमलोग भी नजदीक आए। बाबा को बिठाया। दोनों पैर को जाँघों के नीचे दबा पालथी मारकर बाबा चौकी पर बैठ गए। हमलोगों को भी बैठने को कहा। हमलोग दोनों ओर बैठ गए।

उनका चेहरा काफ़ी करुणापूर्ण हो गया था। वार्द्धक्य की अंतिम चोट उन पर पड़ चुकी थी। चेहरे पर पीलापन स्पष्ट था। उनकी आकृति पर जो भाव था, वह पहली दृष्टि में अवसाद, पीड़ा-सी लग सकता था, लेकिन मैं उस दृश्य को याद करता हूँ और इन तस्वीरों को देखता हूँ, उनकी आकृति पर फैली पीड़ा शुद्ध करुणा-सी विस्तारित लगती थी।

एक बात की ओर ख़ास तौर पर मेरा ध्यान गया। बाबा की आँखों की चमक बेहद बढ़ गई थी। इन तस्वीरों में भी उनकी आँखें चमक रही हैं। चेहरे में अतिरिक्त सूजन आ गया था।

बाबा बैठ गए। मेरी ओर देखकर सिर हिलाकर संकेत किया। प्रश्न-संकेत। मेरे लिए यह भी सुपरिचित मुद्रा थी, 'कहिए समाचार?'

उनके कान के पास जाकर मैंने अपना समाचार बताया। उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछा। बाबा पहली बार बोले, 'हाँ, अब ठीक हूँ। बीच में काफ़ी बीमार हो गया था। बाबा की आवाज़ अस्पष्ट थी। बड़ी कठिनाई से उनकी बात को समझा जा सकता था।'

भाभी ने कहा, 'आपलोग वियोगी जी, भाग्यशाली हैं। बाबा किसी से नहीं मिलते थे।'

बाबा ने मेरी ओर प्रश्न-संकेत किया। यानी क्या कहती हैं?

मैंने कहा, 'हमलोग बहुत भाग्यशाली हैं।'

बाबा ने अपने दाहिने हाथ से मेरे हाथ को पकड़ लिया ज़ोर से। काफ़ी ज़ोर से। यह मेरे लिए एकदम नई बात थी। अविनाश ने तस्वीर उतार ली।

बाबा सिर झुकाए बैठे थे। मैं सामने हूँ। अपनी पूरी शक्ति लगाकर उनके हाथ की ज़ोर को संभाले। पहले बाबा बहुत चिंतामग्न थे। तब थोड़े सहज। तब थोड़ा और सहज। तब पूर्ण सहज। जाने कौन-सी बात होती है कि बाबा एक बार हँसते हैं। अविनाश एक-एक परिवर्तन को कैमरे में संजोए जा रहे हैं।

हमलोग कुछ फल लेकर गए थे। मैं नारंगी के छिलके उतार बाबा को देता हूँ। कटोरा अविनाश के हाथों में है। बाबा नारंगी के टुकड़े मुझे देते हैं, अविनाश को देते हैं। तब एक-आध टुकड़े ख़ुद भी खाते हैं। ॠचा तस्वीर उतारती है।

अविनाश कहते हैं, 'बाबा, उस बात पर काफ़ी शोरगुल मचा है।'

बाबा समझ जाते हैं कि किस बात पर शोर गुल मचा है। वे हँसने लगते हैं। दूसरी बार ऐसी हँसी देखता हूँ। एकदम वही हँसी। सुपरिचित। इस हँसी में व्यंग्य है, धार है, मज़ाक़ उड़ाने के दमखम वाला फक्कड़पन है, अक्खड़पन है।

कुछ दिन पहले बाबा ने प्रेस को एक वक्तव्य दिया था कि भाजपा को एक मौक़ा मिलना चाहिए। पूरे देश के धर्मनिरपेक्ष बौद्धिक इस वक्तव्य से ख़ासे परेशान हुए थे। छीछालेदर हुई थी। मेरे लिए तो यह सब देखना कोई नई बात नहीं था। जब-जब ऐसे दृश्य बनते मैं साफ़ समझ जाता था कि इन संगतियों से बाबा आगे बढ़ गए हैं। ये लोग पीछे छूट गए हैं और इसीलिए बाबा के कथन को ये समझ नहीं पा रहे हैं। एक तरह से ऐसे दृश्य मेरे मनोरंजन के साधन होते थे।

रुक-रुक-कर बाबा बोलते रहे, 'मैंने तो ऐसा इसलिए कहा कि भाजपा सत्ता में आएगी तो उसका असली चेहरा सामने आएगा। अभी जनता भ्रम में है। लॉलीपॉप है। स्वर्ण-संभावना दिखती है। सो सपने टूट जाएँ, वही ठीक रहेगा...।'

हमलोगों ने उन्हें बताया कि उनके वक्तव्य से हम सहमत हैं और उनके आशय को हम पहले से भी समझ रहे थे।

कमरे में काफ़ी समय तक मौन व्याप्त रहा। बाबा चुपचाप मेरे हाथों को थामे रहते हैं। चुपचाप। कभी-कभी वे अपनी देह हिलाते हैं। उसका अर्थ मैं यह लगाता हूँ कि विचार शृंखला की एक कड़ी से वे दूसरी कड़ी में प्रवेश कर रहे हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि वे अकेले और असंलग्न नहीं हुए हैं। वे मुक्त नहीं हुए हैं।

उनके पास बात करने का काफ़ी उत्साह है लेकिन वाणी साथ नहीं दे रही। जैसे उनके अस्तित्व में थोड़ी विशृंखलता आ रही है। अस्तित्व के उपकरण एक-दूसरे से मेल-मिलाप बनाकर नहीं रख पा रहे हों—जैसे उत्साह के साथ वाणी का मेल, मन के साथ शरीर का मेल। इन विशृंखलताओं से बाबा आहत नहीं होते। इसे वे इन्ज्वॉय कर रहे हैं। कौन दे रहा है उन्हें यह साहस कि वे इतना ज़बरदस्त प्रयोग कर सकें? चेतना देती है। वे इतने चेतनापूर्ण हैं कि उत्साह के लिए वाणी और मन के लिए देह की ज़रूरत नहीं है। बाबा धीरे-धीरे अपने शरीर को हिला रहे हैं।

फिर वह भाभी से कहते हैं, 'अब आराम करूँगा।' हम सभी मिलकर बाबा को सुला देते हैं। मैं उनके चरण-स्पर्श करता हूँ।

सारथी के शरीर को किया गया यह मेरा अंतिम प्रणाम है।

‘लौट-लौट आऊँगा फिर-फिर’

(कुछ नए आख्यान)

जमालपुर के केंद्रीय विद्यालय में रहते तीन मौक़े मुझे ऐसे याद आते हैं, जब गोष्ठियों में भाग लेने के लिए मैं दरभंगा गया, और उन गोष्ठियों में बाबा को सुनने का अवसर मिला। और, एक मौक़ा तो ऐसा था, चौथा मौक़ा, जब वक़्त ने बाबा को लेकर कई नई जानकारियों से मेरी झोली भर दी थी।

याद आता है कि अगले एक-दो बरस ऐसे बीते थे कि अपने देसकोस मिथिला में बाबा का आना-जाना बराबर लगा रहता था। वह दरभंगा रहते, गाँव जाते। इस क्रम में विभिन्न ऐसे लोगों से मिलते, जिनका जुड़ाव मिथिला-मैथिली से हुआ करता था। इन दिनों उनमें कितनी ऊर्जा, कितनी ताजगी थी, बता ही चुका हूँ। मिथिला के नौजवानों के संग जब उनका सत्संग होता, उन नौजवानों के पूर्व अर्जित संस्कार में एक प्रश्नचिह्न पैदा हो जाया करता था, और चीज़ों को नए तरीक़े से देखने की उनमें ललक जगती। मैथिली के कुछ बड़े साहित्यकार भी वहाँ थे, जो बाबा से बहुत प्रेम करते थे। बाबा को मिथिला में पाकर उन्हें बहुत संतोष, बहुत गर्व होता था। ये चीज़ें कई बार शिकायती लहजे में मैथिली पत्र-पत्रिकाओं में भी आ जाया करतीं। उसका भाव यह होता कि अब भी तो बाबा चेत करें। अब भी तो वह सोचें कि मिथिला-मैथिली के लिए वे कितनी ज़रूरी चीज़ हैं और वह चाहें तो कितना कुछ कर सकते हैं।

मैथिली की दुनिया दो-तीन तरह के लोगों से मिलकर बनती थी। एक तो मैथिली के साहित्यकार थे। इनमें भी दो तरह के लोग थे। मैथिली घर-घर की भाषा थी। इलाक़े की संस्कृति ऐसी थी कि जहाँ विद्या और व्यक्तित्व प्राचीन काल से ही लोगों की आइडेन्टिटी होती आई थी। लोगों में विद्यानुराग था। इसके चलते, हर गाँव में पचीस-पचास ऐसे लोग ज़रूर होते जो कविता-जैसी चीज़ बनाते थे। कविता बनाना एक औसत गुण माना जाता था। यदि किसी जतन से रुपए-पैसे का

जुगाड़ लग जाए और एक किताब छप जाए तो आदमी बहुत जल्दी मैथिली का साहित्यकार मान लिया जाता था। इसके बाद बस एक ही चीज़ बचती थी कि किसी उपाय से मठाधीश तक पहुँच बन जाए कि साहित्य अकादेमी वग़ैरह से कोई पुरस्कार मिल जाए या और कुछ नहीं तो 'मिथिला-विभूति' सम्मान ही टपक आए। जाहिर है कि इस कविताई में समाज, सरोकार, जीवन-मूल्य, युग-बोध, चेतना, परिवर्तन आदि-आदि 'विजातीय' चीज़ों से उन्हें कोई मतलब नहीं रहता था। विद्यापति के जमाने से ही इन चिरकुट लोगों का दबदबा मुख्यधारा पर चलता चला आया था, जब ये लोग 'लुब्धनगरयाचक' कहकर विद्यापति को भी खारिज करने की कोशिश करते पाए गए थे। साहित्यकारों का दूसरा वर्ग बाबा की सोचवाले लोगों से मिलकर बनता था, लेकिन इनकी परंपरा को अभी सौ वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे। नियमानुसार जो जितना प्राचीन हो, उसकी महत्ता उतनी ही ज़्यादा मानी जाती थी। यह मैथिली का कानून था और यही उसका अंतर्विरोध भी था।

मैथिली की दुनिया में कुछ दूसरी तरह के लोग भी थे, जिन्हें मैथिली-सेवी कहा जाता था। इन्हें 'आंदोलनी' भी कहे जाने का रिवाज था। मैथिली का भाषा-आंदोलन एक जमाने से चलता चला आया था जो अब भी जीवित था। यह सब करने में भी सामाजिक प्रतिष्ठा मानी जाती थी। इसके अपने फ़ायदे भी थे। शार्टकट तलाशकर कुछ लोग कैरियर बनाने का रास्ता भी ढूँढ़ लेते थे। लेकिन, प्रतिबद्ध लोगों की भी कमी न थी। बाबा ने अपनी नौजवानी में इस सबके लिए भी बहुत काम किया था। वह अब भी इन गतिविधियों में दिलचस्पी रखा करते थे। लेकिन, अतीत में ऐसी कई ग़लतियाँ की जा चुकी थीं, जिनका निस्तार लाख जतन करके भी हो नहीं पा रहा था। मिथिला के महाराजा ने राष्ट्रीयता के जोश में आकर बीसवीं सदी के ही नौंवे दशक में राजकाज की भाषा मैथिली के बदले हिंदी को बनाई थी। अब, बिहार सरकार अपने ऊपर 'अराष्ट्रीयता' या 'राष्ट्रीयता-द्रोह' का पाप कैसे ले सकती थी ? प्राचीन भारत में मिथिला एक राष्ट्र की गरिमा रखती थी, लेकिन भाषाधार प्रांत का गठन होते समय, सभी योग्यताएँ होने के बावजूद इसे एक प्रांत तक बनाए जाने के लायक़ नहीं माना गया था। इसकी कई वजहें थीं। नवजागरण की लहर जब समूचे देश में चल रही थी तो यहाँ के लोगों ने भी 'मैथिल महासभा' बनाई थी ताकि लोग एकजुट हो सकें, लेकिन 'मैथिल' कहलाने की पात्रता केवल ब्राह्मणों और कायस्थों को दी गई थी। इसके भी बाद, जब 'मानक भाषा' तैयार करने का बीड़ा महापुरुषों ने उठाया तो उच्च कुल-मूल के पाँच प्रधान गाँवों का श्रोत्रिय-समाज जिस सम्भ्रांत भाषा का प्रयोग करता था, उसे मानक मैथिली घोषित किया था। समाज

में प्रतिक्रिया थी। यह सारा कुछ सनातनी महापुरुषों का किया-कराया था, और तब तक होते रहनेवाला था, जबतक मैथिली मर न जाए। बाबा का कभी-कभी जब पारा चढ़ता, वह सार्वजनिक रूप से एलान करते कि मैथिली मर जाएगी। हल्ला-गुल्ला मचता। उन्हें दस गालियाँ दी जातीं। बाबा फिर से पंजाब तरफ़ निकल जाते और 'तालाब की भैंसें पहले की ही तरह जल-क्रीड़ा' करती रहती थीं।

जैसा कि मैं याद कर पाता हूँ, अपने भावुक क्षणों में बाबा ने कभी यह कहा भी था, 'जानते हैं तारा बाबू, वह भी मैं ही हूँ, यह भी मैं ही हूँ। ये सब मेरे ही अंतर्विरोध हों, जैसे।'

अब विश्लेषण करूँ तो पाता हूँ कि ऐसी बात कहते समय बाबा मिथिला की ओर से बोलते होते थे। मिथिला, जो कि उनका आत्म-परिचय थी।

बाबा की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के मौक़े पर देश भर में कई आयोजन हुए थे। इस प्रकार के कई आयोजन मिथिला में भी हुए थे। दरभंगा का आयोजन सबसे विलक्षण था। इसके आयोजक विजय कांत ठाकुर थे। विजय बाबू मूलत: वामपंथी राजनीति के कार्यकर्त्ता थे। संभव है पार्टी के राज्य स्तर के या ज़िला स्तर के वह कोई पदाधिकारी भी हों, लेकिन उनकी सादगी और आत्मीयता से लबालब उनकी प्रखरता ऐसी थी कि वह हमारे मित्र-जैसे लगते थे। और चूँकि हम अपने-आपको मैथिली साहित्य के कार्यकर्त्ता से अधिक नहीं मानते थे, अत: उन्हें भी कार्यकर्त्ता-जैसा देखना चलता रहता था।

मैथिली को लेकर वामपंथी राजनीति का जो स्टैण्ड था, उससे हम सारे लोग जमाने से असहमत रहा करते थे। स्वयं बाबा की भिड़ंत रामविलास शर्मा से 1954 में ही हो चुकी थी, और बाबा ने अंत-अंत तक अपने विचार नहीं बदले थे, यह बताने की ज़रूरत नहीं है। इधर, विजयकांत ठाकुर ने दरभंगा में 'चिनगी मंच' की स्थापना सिर्फ़ इसलिए की थी कि मैथिली की जनवादी परंपरा को सामने लाया जाए और जहाँ तक संभव हो, बढ़ाया जाए। मंच की ओर से 'चिनगी' पत्रिका का प्रकाशन हुआ करता था। बाबा की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ पर 'चिनगी' ने विशेषांक प्रकाशित किया था, और मेरा ख़याल है कि मैथिली में बाबा पर प्रकाशित किसी पत्रिका का यह पहला विशेषांक था। 'चिनगी' के छह-सात अंक निकले। ये अंक मैथिली पत्रकारिता में अपनी एक ख़ास पहचान रखते हैं।

आयोजन तीन दिनों का था। मैथिली के सारे वरिष्ठ और युवा लेखक, किसी-

न-किसी दिन इसमें ज़रूर उपस्थित हुए थे। यहाँ तक कि सुरेन्द्र झा सुमन, चंद्रभानु सिंह और जयमन्त मिश्र भी उपस्थित हुए थे। कार्यक्रम की रूपरेखा बड़ी ही सूझबूझ से तैयार की गई थी, और इसे लेखक-शिविर का स्वरूप दिया गया था।

इतने सारे मैथिली लेखकों, जिनमें बाबा के प्रिय जीवकांत भी थे, सोमदेव-रमानंद रेणु-मोहन भारद्वाज भी, मायानंद मिश्र भी थे, भीमनाथ भी—बाबा बहुत प्रसन्न हुए थे। कार्यक्रम में आत्मीयता तो थी ही, अनौपचारिकता भी बहुत थी। समझा जाए कि अपनी मरजी से चलाने के लिए उन्हें इतने सारे लेखक और तीन दिन, दे दिए गए थे। याद आता है, अपने सम्मान का उत्तर देते हुए बाबा अपनी पिछली बीमारी का ज़िक्र करने लगे थे, 'पिछली बार जो मैं बीमार पड़ा, क्या बताऊँ, बड़ी ही रोमांचकारी अनुभूति थी वह! ख़ून की ज़रूरत थी। देखा कि बाइस लड़के ख़ून देने के लिए प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। मैं दूँगा तो मैं दूँगा। क्या बताऊँ, यह दृश्य माता (मिथिला) भी देख रही थीं। मैंने तो उन्हें एक बार फिर अंतिम प्रणाम कर लिया था। लेकिन, यह दृश्य देखा तो उन्होंने भी इनकार कर दिया। बोलीं, 'जा रे अभागे, कहीं भी जा, लेकिन लौट-लौटकर आते रहना।' (जो रे अभगला कतहु जो, घुरि-घुरि अबैत रह।)

और, वह बोले थे, 'इतने सारे लोगों का 'सहवास' और 'सह-अस्तित्व' तीन दिन मिला, मेरे-जैसे आदमी को इस तरह की गोष्ठी में भाग लेकर यही कामना जगेगी कि चार दिन और जी लूँ।'

तीन दिन के इस आयोजन को तीन अलग-अलग मसलों पर केंद्रित किया गया था। पहले दिन का विषय था, 'मैथिली भाषा : स्वरूप, स्थिति, शिक्षा-नीति और उपादेयता।' दूसरा दिन साहित्य पर केंद्रित था, 'समकालीन मैथिली साहित्य : इतिहास-लेखन की समस्या और समीक्षा का वर्त्तमान।' तीसरे दिन को रंगमंच के साथ-साथ प्रकाशन, प्रसारण, लेखक-पाठक-संबंध, भविष्य-दृष्टि आदि पर केंद्रित किया गया था। इस आयोजन की दो-तीन चीज़ें ख़ास तौर पर याद आती हैं। बाबा ने अपने सम्बोधन में कहा था, 'दरभंगा में भारत सरकार ने आकाशवाणी का केंद्र खोला। अच्छी बात है भाई, तुम्हें अपनी बात जनता तक पहुँचाने की ज़रूरत पड़ी तो तुमने खोला। दरभंगा का प्रसारण समूची मिथिला सुनती है। समाचार हिंदी में होते हैं, अंग्रेजी में होते हैं, अन्य-अन्य भाषाओं में भी होते हैं। लेकिन, मिथिला की जनता के लिए यह कितनी शर्मनाक बात है कि मैथिली में समाचार नहीं होता। क्यों नहीं होगा साहब? मिथिला के मुँह में बोल नहीं है? नस में ख़ून नहीं है?'

और उन्होंने कहा था, 'आइए, हम इसके लिए संघर्ष करेंगे। और, इसका नेतृत्व मैं करूँगा।' और, उन्होंने यह किया था। वह धरना पर भी बैठे थे।

और, इस शिविर में एक चीज़ यह हुई थी कि वस्तुवादी ढंग से मैथिली साहित्य का इतिहास लिखा जाय—इसके लिए एक समिति का गठन किया गया था। तय हुआ था कि आधुनिक मैथिली कथा-साहित्य पर सबसे पहले काम शुरू किया जाए। और, यह तय हुआ था कि सखी भाषाओं—उड़िया, असमिया, बांग्ला—के साथ जीवंत संपर्क-सामीप्य के लिए रणनीति बनाई जाए, अनुवादक इसमें लगें और उधर के लोग भी चीज़ों का भरपूर आदान-प्रदान करें। कहा ही कि इस आयोजन से वह इतने प्रसन्न हुए थे कि 'चार दिन' और अधिक जीने की कामना उनके भीतर जगी थी।

और, याद आता है कि इन्हीं दिनों के आस-पास, संभवतः नवम्बर 1986 की किसी तारीख़ को, दरभंगा में 'मिथिला-विभूति पर्व' मनाया जा रहा था। इसमें, संभवतः त्रिदिवसीय कार्यक्रम के दूसरे दिन, कार्यक्रम का उद्घाटन करते हुए बाबा ने कहा था—कि 'आज की राजनीति ने भाषा और साहित्य की कोई भी औकात नहीं बचे रहने दी है। अगर आप भाषा-साहित्य हैं तो आप राजनीति की गोद में चुपचाप खेलते रहें, जैसा वे कहते हैं, करते रहें। सोचिए, कोई ज़िंदा कौम कैसे यह बर्दाश्त कर सकती है? और सोचिए कि क्या उसे बर्दाश्त करना चाहिए? मैथिली की आज यही स्थिति है। मैं मिथिला के नौजवानों को संघर्ष के लिए आह्वान करता हूँ। और आमंत्रित करता हूँ कि आप लड़कर मैथिली को राजनीति की गोद से निकालिए ताकि इसे न्यायोचित स्थान मिल सके। मैथिली बढ़ेगी तो मिथिला की भी खैर होगी। वह भी बढ़ेगी।'

चिनगी-मंच की गतिविधियों से मिथिला का, ख़ासकर दरभंगा का वातावरण बहुत तेज़ी से बदल रहा था। गतिविधियों की रफ़्तार भी इतनी तेज़ थी कि हर हफ्ते कुछ-न-कुछ होता ही रहता था। युवा जुड़ रहे थे। उन्हें चीज़ों को देखने की आँखें मिल रही थीं। पुराने लोग, जिन्हें सनातनियों ने शंट कर रखा था, और अब वे लिखना-पढ़ना कम कर अपने गाँव-घर में अन्य क्रिया-कलाप चलाने तक सीमित रह गए थे, उनमें भी ताजगी आई थी। ऐसे पुराने लोगों में अग्रगण्य थे—काञ्चीनाथ झा किरण। मैं उन्हें जानता था। वह मधुबनी के एक गौरवशाली गाँव धर्मपुर के रहनेवाले थे। अपने परिसर में 'मास्टर साहब' के नाम से जाने जाते थे, जबकि पेशे से आयुर्वेदिक चिकित्सक थे और बहुत बाद को जाकर मैथिली के प्राध्यापक भी हुए थे। उनके विचार बड़े ही क्रान्तिकारी थे। अपने आचार-व्यवहार में वह इतने अनुकरणीय थे

कि 'गौरवशाली गाँव' का बाशिंदा होने के बावजूद पीठ-पीछे भले ही उनकी निंदा सब कर लें, लेकिन आमने-सामने प्रतिवाद कोई नहीं कर सकता था। सम्भ्रांत संस्कृति के तत्कालीन मठाधीश रमानाथ झा, जो महाराजाधिराज के आश्रयप्राप्त थे, मानक मैथिली के आविष्कारक थे, और बाबा के मैथिली-लेखन को दो कौड़ी का घोषित करते हुए उनके मनोबल को तोड़ने, मैथिली की दुनिया से उन्हें खदेड़ने का पूरा प्रयास कर चुके थे, उन आचार्य रमानाथ झा से भिड़न्त लेने की हिम्मत काञ्चीनाथ किरण ने ही की थी। लेकिन, आचार्य जी की मैथिली थी कि किरणजी को लेखक ही नहीं माना जाता था। और, जब आप लेखक ही नहीं हैं तो आपके लिखे का क्या मोल? लिखते रहिये लेख, करते रहिये प्रतिवाद। कौन सुनेगा? क्यों सुनेगा? आप लेखक ही नहीं हैं! उन किरणजी को फिर से, मैथिली की गतिविधियों से जोड़ने का काम चिनगी-मंच ने किया था। याद आता है कि 'चिनगी' के प्रवेशांक का लोकार्पण इन्हीं किरण जी के हाथों कराया गया था। और, जिस तरह चिनगी-मंच ने बाबा के सम्मान में गोष्ठी आयोजित की थी, वैसा ही एक गरिमापूर्ण आयोजन किरण जी के सम्मान में भी किया गया था।

और तब, याद आता है कि इसी 'चिनगी-मंच' ने एक बहुत ही विशाल, बहुत ही भारी समारोह इसी दरभंगा में कराया था। वह था—जनवादी लेखक संघ का बिहार राज्य सम्मेलन। हिंदी, मैथिली, भोजपुरी, असमिया, उड़िया, बांग्ला तथा आदिवासी भाषाओं के दो सौ से अधिक लेखक इस सम्मेलन में जुटे थे। समूचा दरभंगा-लहेरियासराय तीन-चार दिनों तक लेखकमय हो गया था। जैसा कि मैं याद कर पाता हूँ, भैरव प्रसाद गुप्त, चंद्रबली सिंह, महमूद हसन, चंद्रभूषण तिवारी, चंचल चौहान, शिवकुमार मिश्र, रमेश कुन्तल मेघ, इरफान हबीब, इसरायल, अरुण माहेश्वरी, हरीश भदानी आदि कई बड़े-बड़े लोग इसमें आए थे। इस कार्यक्रम के उद्घाटक थे बाबा। वही विशिष्ट अतिथि भी थे। अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त इसमें दो महत्त्वपूर्ण संगोष्ठियाँ भी हुई थीं। एक का विषय था—स्वाधीनता आंदोलन और साहित्य। और दूसरे का विषय था—मैथिली साहित्य की जनवादी परंपरा। इस मौक़े पर 'चिनगी' का जो विशेषांक लोकार्पित हुआ था, वह इसी विषय पर केंद्रित था—मैथिली साहित्य की जनवादी परंपरा। इस कार्यक्रम में काञ्चीनाथ झा किरण आमंत्रित थे।

और बातों के विस्तार में नहीं जाऊँगा। जो बात मुझे कहनी है, उसके लिए विस्तार की ज़रूरत भी नहीं। बात सिर्फ़ उद्घाटन-सत्र की।

उद्घाटन सत्र में, मंच पर जो कुछ गिने-चुने वरिष्ठ लेखक थे, उनमें काञ्चीनाथ

झा किरण भी थे। उद्घाटक के रूप में बाबा माइक पर आए थे। उस दिन उन्होंने कुछ अलग ही अंदाज़ में अपनी बात रखी थी। संक्षिप्त-सा बोलने के बाद उन्होंने विस्तार से बोलने के लिए किरण जी को बुलाया था। उनका परिचय देते हुए वह बोले थे, 'किरण जी मेरे 'बड़े भाई' हैं, और वह दोनों ही अर्थों में—सोच में भी, और क्रिया में भी, उमर में बड़े तो हैं ही।' और, उन्होंने कहा था, 'मैं जब 'भुतिया' गया था तो यही किरण जी हैं, जिन्होंने 'कान पकड़कर' मुझे रास्ते पर खींच लाया था।' और चीज़ों में, हो सकता है, मेरी स्मृति धोखा खा रही हो, लेकिन इन दो शब्दों की प्रामाणिकता मैं प्राणपण से घोषित करता हूँ, 'भुतिया गया था' और 'कान पकड़कर'।

आप कल्पना कर सकते हैं कि उस वक़्त कैसा माहौल बन गया होगा। खचाखच भरा हुआ हॉल तालियों की गूँज से गर्दमिसान हो गया था। हम-जैसे नौजवान भावनातिरेकवश उठकर खड़े हो गए थे। बाबा माइक छोड़कर पीछे मुड़े थे और ख़ुद जाकर, हाथ पकड़कर किरण जी को माइक पर ले आए थे। इस बीच, तालियों की गड़गड़ाहट लगातार जारी थी। किरण जी धोती की खूँट से अपनी आँखें पोंछते नज़र आए थे। और तब, मैथिली में, उन्होंने वाकई काफ़ी विस्तार में जाकर मैथिली साहित्य की जनवादी परंपरा के बारे में अपनी बात रखी थी।

वे वो दिन थे, जब मैं कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. कर रहा था। इस सिलसिले में अक्सर मेरा दरभंगा आना-जाना हुआ करता था। कभी रेडियो का भी प्रोग्राम आ जाता, कभी किसी साहित्यिक गोष्ठी में भाग लेने का मन बन जाता। कुछ दूसरे भी ऐसे कार्यक्रम आ निकलते, जिनके लिए जाने की ज़रूरत पड़ती। मैं सबको मिला देता, और एक ही छुट्टी में सबको निबटाने की कोशिश करता। दरभंगा से ही कभी-कभार मधेपुर चला जाता। मधेपुर है तो मधुबनी जिले का प्रखण्ड मुख्यालय, लेकिन दरभंगा से वहाँ की सीधी बस थी, और झंझारपुर तक तो ट्रेन से भी जाया जा सकता था। मधेपुर प्रखण्ड में ही मेरी ससुराल भी पड़ती थी। उस इलाक़े में मेरे कई मित्र थे, जिनमें प्रख्यात कथाकार अशोक और शिवशंकर श्रीनिवास थे।

किरण जी के सुपुत्र केदारनाथ झा मधेपुर कालेज में प्राध्यापक थे। वहाँ, उनके आवास पर किरण जी अक्सर रहा करते। कुछ बरस पहले वहीं मैं श्रीनिवास जी के साथ किरण जी से पहली बार मिला था। उस मुलाक़ात में उनसे जो मेरी बात

हुई थी, उसे मैंने साक्षात्कार की शक्ल में लिख भी लिया था, और वह 'वैदेही' मासिक में प्रकाशित भी हो चुका था।

उस, जनवादी लेखक संघ के कार्यक्रम में बाबा ने जो वह बात कही थी, 'भुतिया जाने' और 'कान पकड़कर खींच लाने वाली बात' और उन्होंने जिस मौक़े पर कही थी, और जितनी गंभीरता से कही थी, और जिस तरह का माहौल उस वक़्त यह सुनकर बन गया था—तभी मेरे मन में ख़याल आया था कि कितना अच्छा हो कि कभी यह बात किरण जी से विस्तार से की जाए! किरण जी से इसलिए कि वह सलीके से, पूरे विस्तार में जाकर बातें बता सकते थे और यह सब बताकर उन्हें ख़ुशी भी होती। बाबा से शायद इसलिए नहीं कि उतनी देर तक उन्हें घेरकर रखना मेरे लिए कठिन चुनौती होती! फिर, यह भी लगा था कि किरण जी से मूल बातें जान लूँ तो बाबा से प्रश्न-प्रतिप्रश्न करने में और भी बात खुलेगी। फिर तो यह सिलसिला बना कि जब भी मधेपुर जाना हो यह पता ज़रूर करता कि किरण जी से मिलना और लम्बी बातचीत संभव हो सकती है क्या? और जल्द ही यह अवसर मिल भी गया था।

भूमिका बांधने का धैर्य किसे था? बात शुरू हुई नहीं कि मैं अपने मुद्दे पर आ गया था, 'बाबा उस दिन बोल रहे थे कि वह भुतिया गए थे। क्या आपको भी लगता है कि वह भुतिया गए थे?'

उन्होंने प्रतिप्रश्न किया था, 'भुतियाने का आप क्या अर्थ समझते हैं?'

'जैसे मेले में बच्चे खो जाते हैं। जाना किसी और तरफ़ रहता है, किसी और ही तरफ़ चले जाते हैं। मतलब कि जो आपका गन्तव्य नहीं है, उसकी ओर बढ़ना। जो चीज़ आप वास्तव में हैं, उसके विपरीत का वरण।'—मैं कुछ ज़्यादा ही बोल गया था। जानबूझ कर। पात्रता सिद्ध करनी थी कि जिस तरह मैं सुनना चाहता हूँ, उसी विस्तार में जाकर वह बताएँ। जानता था कि नौजवानों से कायदे की बातें सुनना किरण जी को बहुत पसंद था।

'देखिए, मैं नहीं मानता कि वह भुतिया गए थे। बहुत चीज़ों से मिलकर व्यक्तित्व बनता है। आज यात्री जी फुनगी पर हैं, जबकि मैं जड़ में ही खड़ा हूँ। जिसको वह अपना भुतियाना कह रहे हैं, उसकी भूमिका भी तो इसमें है। माने उन्हें फुनगी तक पहुँचाने में।'

'जी। यह तो है। लेकिन, भुतियाना वह कह किसको रहे हैं?

मेरे इस प्रश्न ने जैसे उनकी स्मृतियों का बंद वातायन खोल दिया। वह भीतर उतर पड़े।

'देखिए, मैंने और कुछ नहीं किया। सिर्फ़ उनपर फंदा डाला। बार-बार डालता रहा कि वह लिखने-पढ़ने के काम में लगें। इसी के लिए वह बने हैं। वह मैथिली में लिखें, इसपर मेरा ज़्यादा ज़ोर था। उनके साथ दिक़्क़त यह थी कि उनके जीवन में बहुत अस्थिरता थी और विचलन भी बहुत थे। वह बहुत सारी चीज़ें करना चाहते थे और सबकुछ डूब कर करना चाहते थे। मैं आपको विस्तार से बताता हूँ।'

'जी, बहुत अच्छा होगा।'

'1930 का वर्ष था, जब मैं काशी पहुँचा। वहाँ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में मैंने नामांकन कराया था। यात्री जी उसके कुछ पहले से काशी में रह रहे थे। वह स्वराज आंदोलन का जमाना था। उसके रंग में मैं पहले ही रंग चुका था। लेकिन, वहाँ मैं देखता क्या कि बांग्ला-पंजाबी की तो बात ही क्या, मराठी-मलयालम आदि भाषाभाषियों का भी अपना संघ था, साहित्य-परिषद् था, पत्रिका थी। मैथिली में ऐसा कुछ भी नहीं था। 'मिथिला मोद' बारह साल पहले ही बंद हो चुका था। हृदय में पीड़ा उठती। महसूस होता कि मातृभाषा का कार्य अभी सबसे ज़रूरी काम है।'

'फिर आपने क्या किया?'

'मेरी प्रवृत्ति हमेशा से समाज बनाने की, समाज को साथ लेकर चलने की रही है। अपनी भलाई सिर्फ़ अपना भला करने से नहीं हो सकती। दस का भला हो, तभी आपकी भलाई आपको भोग होती है। मेरी विचारधारा आप जानते होंगे।'

'जी, जानता हूँ। कौन नहीं जानता!'

'उधर, विश्वविद्यालय-कैम्पस में दिक़्क़त यह थी कि मैथिल छात्रों की संख्या नगण्य थी। जो गिने-चुने थे भी, उनकी रुचि सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों में थी नहीं। तो, इस स्थिति में, अपनी गतिविधि चलाने के लिए मैंने काशी शहर से संपर्क किया। बनारस कैन्ट, सिगरा, लक्ष्मी कुण्ड, अगस्त्य कुण्ड, बाँसफाटक, साक्षी विनायक, रानी भवानी गली, सकरकन्द गली, धर्मकूप, विश्वनाथ गली, नीलकण्ठ, नेपाली खपड़ा, ब्रह्मलौज, गोमठ, कचौड़ी गली, अस्सी घाट, शिबाला, लाहौटी टोला इन सब में मैथिलों का वास था। हर जगह मैं घूमा। सबको जोड़ने का अभियान चलाया।'

'यात्री जी से आपका संपर्क कैसे हुआ?'

' 'यात्री' तो तबतक वह हुए भी नहीं थे। सिर्फ़ वैद्यनाथ मिश्र। अठारह-उन्नीस साल का तरुण। हुआ यह कि मीरघाट मैथिलों का मशहूर अड्डा था। वहाँ रानी कोठा

था। उसमें महारानी लक्ष्मीवती छात्रावास चलता था। छात्रावास में सिर्फ़ श्रोत्रिय लड़कों को जगह देने का नियम था। जगह अगर बच जाती तो ब्राह्मणों को भी दिया जाता था। वहाँ मेरे ग्रामीण मित्र दुर्गाधर झा, सीतानाथ झा, श्यामानंद झा आदि रहते थे। जब कभी आप्तजनों का उद्वेग चढ़ता तो मैं मीरघाट भागता। यात्री जी वहीं रहते थे। आते-जाते वहीं उनसे पहला परिचय 1930 के आख़िरी महीनों में हुआ था। 1931 की शुरुआत में जब मैंने मैथिल छात्रों के संगठन का काम शुरू किया तो मेरे सबसे क़रीबी सहयोगी हुए वैद्यनाथ मिश्र और श्यामानंद झा।'

'उन्हीं दिनों शायद आपने हस्तलिखित पत्रिका निकालनी शुरू की थी न?'

'हाँ। कुछ ही दिनों में हमलोगों ने ऐसी टीम बना ली कि यह संभव हो सका था। स्मरण आता है, एक बैठक में हम सब लोगों ने साहित्यिक उपनाम धारण करने का अभियान चलाया था। पण्डित कुलानंद मिश्र ने 'केसरी' नाम रखा। देवचंद्र झा 'चन्दिर' हुए। वामदेव मिश्र 'विमल'। मैं काञ्चीनाथ 'किरण' और वह वैद्यनाथ मिश्र 'वैदेह'। और भी कई लोग थे। उनलोगों ने मार्त्तण्ड, कोदण्ड आदि कितने ही उपनाम धारण किए। हमारे साथी श्यामानंद झा ने कोई उपनाम रखने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि यह हिंदी कवियों की नक़ल है। तब, हमलोगों ने मिलकर 'मैथिली सुधाकर' पत्रिका निकालनी शुरू की। पण्डित कुलानंद मिश्र 'केसरी' इसके सम्पादक बनाए गए।'

'अद्भुत।'

'इस हस्तलिखित पत्रिका को निकालने में हमें कितना श्रम करना पड़ता था, आप कल्पना नहीं कर सकते। हम शहर के मुहल्ले-मुहल्ले में घूमकर विद्वानों को सादा काग़ज़ बाँट आते और रचना लिखने का आग्रह करते। लोग सम्भावित समय देते। उस दिन फिर घूम-घूमकर रचना इकट्ठा करते। कोई लिखता, कोई नहीं भी लिखता। फिर कोई अगला समय दिया गया तो फिर दौड़िए। शहर में हमारा कार्यालय हुआ वैदेह जी की कोठरी। विश्वविद्यालय कैम्पस में एकमात्र प्रबोध बाबू थे, जिनसे हमें कुछ सहायता मिलती थी।'

'फिर आगे क्या हुआ?'

'1931 ई. की देवउठान एकादशी की शाम की बात बताता हूँ। एक अपरिचित विद्यार्थी मेरे पास आया। उसने काग़ज़ का एक टुकड़ा मुझे दिया। एक-डेढ़ वर्ग ईंच का टुकड़ा। उसपर लिखा था—

कातिक धवल त्रयोदसि जान
विद्यापतिक आयु अवसान

‘विद्यापति-जयंती मनाइएगा?’

‘अच्छा! यह किसने भेजा था?’

किसने लिखा, किसको लिखा, कहाँ से और कब लिखा—कुछ भी अंकित नहीं था। लिखावट देखकर ही समझा जा सकता था। लिखावट वैदेह जी की थी। उनकी इस सूझ ने क्षणभर में मुझे त्रैलोक्य सुझा दिया। यह बता दूँ कि चेहरे-मोहरे से वैदेह जी भुच्च देहाती टाइप के, बुड़बक जैसे लगते थे। मुखाकृति बच्चों-जैसी थी और बोलचाल में भी लटपटाह थे। मुझे मालूम था कि कविता का नैसर्गिक वरदान इस युवक को मिला हुआ है। लेकिन, यह युवक इतनी असाधारण प्रतिभा रखता है, मैंने अबतक नहीं सोचा था। आप समझते हैं? आज देश-विदेश में जहाँ भी मैथिल हैं, सभी जगह विद्यापति पर्व मनाया करते हैं। मैथिलों की यह आइडेन्टिटी है। और, इस विद्यापति-पर्व का आविष्कार वैदेह जी ने इस तरह किया था।’

‘विलक्षण। इन सब बातों को तो इतिहास में दर्ज होना चाहिए।’

‘हाँ। इस बारे में ‘मिथिला मिहिर’ में मैंने एक लेख भी लिखा था। बहुत दिन की बात है।’

‘फिर आगे क्या हुआ? आपलोग मना पाए? समय तो एक ही दिन का बचा था!’

‘हाँ। एक ही दिन का समय था। लेकिन, यह सूझ इस तरह पागल कर देनेवाली सूझ थी कि हमसे बैठा भी नहीं रहा जा सकता था। अगले दिन हम तमाम युवक सड़कों पर थे। हम सभी मुहल्लों में घूम आए। आख़िर संस्कृत छात्रावास का सभा-भवन आयोजन-स्थल निर्धारित किया गया। प्रबोध बाबू और दुखमोचन बाबू को आयोजन-स्थल सुसज्जित करने का भार देकर हम संपर्क में निकले। और, निश्चित समय पर विद्यापति-पर्व मनाया गया। अध्यक्षता की महामहोपाध्याय मुकुन्द झा बख्शी ने। स्वागताध्यक्ष हुए न्यायवेदांतमूर्त्ति बालकृष्ण मिश्र। वक्तागण थे—गेनालाल चौधरी, बलदेव मिश्र, सीताराम झा, बालबोध मिश्र, आनंद झा, राधाकांत झा, चंद्रशेखर झा आदि। ये सब लोग उस जमाने की काशी में विद्वत्ता और कवित्व की पराकाष्ठा पर थे। इतने लोगों का आगमन सुनकर अन्यदेशीय छात्रों का हुजूम भी उमड़ पड़ा। मिथिला का गौरव समूची काशी में अनुगूँजित हो गया समझिए। और, आगे तो इसका बहुत ही प्रभावकारी परिणाम हुआ। मैथिल जन जो कल तक अपना परिचय छिपाए फिरते थे, अब गौरव का अनुभव करने लगे। अन्य देशीय लोगों के मन में भी मैथिलों के प्रति सम्मान-भावना आई। लेकिन, इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह हुई कि मैथिली के शीर्ष कवि सीताराम झा और शीर्ष गद्यकार बलदेव मिश्र का ध्यान वैदेह

जी की प्रतिभा की ओर गया। उनसे निकटता हुई। उनके गहरे सामीप्य में ये आए। और तभी, वैदेह जी ने अन्तिम रूप से निर्णय लिया कि लेखन का काम संस्कृत में नहीं करेंगे, मैथिली और हिंदी में करेंगे।'

'और, 'मैथिली सुधाकर' तो चलता ही रहा होगा। उसमें वैदेह जी की रचनाएँ भी आती होंगी।'

'हाँ, वह चलता रहा। 1933 में तो मैं काशी से कलकत्ता चला गया, लेकिन पाँच वर्ष तक यह पत्रिका चलती रही। कुलानंद मिश्र के बाद इसके सम्पादक बलभद्र झा हुए, फिर आनंद झा और उसके बाद जगन्नाथ झा। वैदेह जी ही नहीं, मुझे, मधुप जी और श्यामानंद झा को भी साहित्य में व्यवस्थित करने का श्रेय इसी पत्रिका को है। इसके बारे में मैंने एक लेख लिखा भी है। उसमें वैदेह जी की ऐसी-ऐसी रचनाएँ प्रकाशित हैं, जिनके बारे में कोई भी नहीं जानता।'

'उन दिनों की, वैदेह जी की और भी कोई गतिविधि, जो आपको याद आती हो?'

'हाँ, एक बात याद आती है। उन्होंने रानी कोठा में एक पुस्तकालय की स्थापना की थी। उसका नाम 'भारती निकेतन' रखा था। इस पुस्तकालय से उन्होंने 'भारती' नामक एक पत्रिका अलग से भी निकाली थी।'

'काशी से आप कलकत्ता गए और वैदेह जी भी तो काशी से कलकत्ता ही गए थे। वहाँ आप दोनों का फिर मिलन हुआ होगा!'

'हाँ। वहाँ भी मेरे पहुँचने के पहले से ही वह हाजिर थे। थोड़े ही दिनों में वहाँ के तमाम लोगों से उन्होंने संपर्क बना लिए थे। इसका लाभ मुझे मिला। हमलोगों के लिए विद्यापति-दिवस एक रोमांचकारी अनुभव था। वहाँ भी हमने इसका आयोजन किया। श्रीकांत ठाकुर वहाँ 'लोकमान्य' के सम्पादक थे। उनका काफ़ी अच्छा सहयोग हमें मिला। वैदेह जी वहाँ भी छा गए। फिर हमने एक स्थायी संस्था बनाने का विचार किया। वहाँ 'मैथिल समाज' नाम से पहले से एक संस्था थी, लेकिन वह मृतप्राय थी। उसे हमने जीवित किया। हमारा पहला विद्यापति-दिवस 'मैथिली समाज' कार्यालय की छत पर मनाया गया था। यह 1933 की बात है। लेकिन, 1934 में किसी दिन वह मेरे आवास पर आए और सूचना दी कि सहारनपुर जा रहे हैं। चले गए।'

'फिर आगे उनसे संपर्क?'

'देखिए, काशी से जो मैं कलकत्ता गया था, वह टी. सी. लेकर गया था। आयुर्वेद का स्नातक मैं कलकत्ता जाकर ही हुआ। 1936 में स्नातक होने के बाद मुझे नौकरी मिली रानी चंद्रावती श्यामा चिकित्सालय काशी में, और 1936 में मैं

फिर काशी आ गया। वहाँ के माहौल में तबतक काफ़ी परिवर्तन आ चुका था। मैथिल और मैथिली की एक पहचान कायम हो चुकी थी। और क्या हुआ था कि महामहोपाध्याय मुरलीधर झा जिन्होंने ऐतिहासिक 'मिथिला मोद' (1905 से प्रकाशित मैथिली पत्रिका) का प्रवर्त्तन किया था, और 1929 में ही उनका देहांत हो चुका था, उनके भतीजे श्यामा मंदिर के मैनेजिंग ट्रस्टी होकर आ गए थे। लोग भी थे, साधन भी, इसलिए बारह वर्षों से बंद 'मिथिला मोद' को फिर से शुरू करने का दबाव बना। और, वह शुरू हो भी गया।'

'फिर वैदेह जी भी यहाँ आ गए?'

'नहीं, बताता हूँ।'मिथिला मोद' के प्राय: चौथे उद्‌गार में वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' की कविता छपी 'अन्तिम प्रणाम'। यह 1937 की बात है। यहीं पर वैदेह जी पहली बार 'यात्री' बनकर प्रकट हुए। मतलब, वह ख़ुद नहीं आए, आई उनकी कविता। उसमें 'अहिबात' के 'पातिल' को फोड़-फाड़कर 'आन ठाम' चले जाने का संकल्प था और माँ मिथिला को अन्तिम प्रणाम किया गया था। सूचना मिली कि यात्री जी दुस्तर सागर को पारकर कहीं दूर चले गए, सदा-सर्वदा के लिए। लेकिन कहाँ गए? अण्डमान, गोआ, लंका, जापान, यूरोप? इसकी सूचना कविता से नहीं मिलती थी। हम बहुत विस्मित, बहुत दुखी हुए। सभी बहुत दुखी हुए।'

'मतलब, आप उनके निर्णय से सहमत नहीं थे।'

'देखिए। मेरे जीवन में भी बहुत संघर्ष था। ग़रीबी थी। ग़ैरबराबरी का व्यवहार था। प्रतिभा की कद्र नहीं की गई थी। ऊपर से 1930 में ही मेरे पिता का भी देहांत हो चुका था। लेकिन इसका क्या मतलब? मैं दुनिया से भाग जाऊँ? संन्यासी का बाना धर लूँ? जबसे मुझे होश हुआ मैंने अपने चतुर्दिक ग़रीब-ही-ग़रीब लोग देखे थे। आप ब्रह्मस्थान देखते हैं न! गाँव में इक्का-दुक्का ही होता है न? वही बात अमीरों की थी। इक्का-दुक्का अमीर कहीं-कहीं दिखते थे। वैदेह जी भी ग़रीब थे, मुझे बताइए इसमें कौन-सी बड़ी बात थी? दूसरी बात यह कि उनकी वह कविता भी ग़लत थी।'

'ग़लत थी? क्या ग़लती थी उसमें?'

' 'अहिबातक पातिल फोड़ि-फाड़ि' का क्या अर्थ हुआ—आप ही मुझे बताइए। यही न कि दाम्पत्य संबंध कटु हो गया। वह स्थिति बन गई, जिसमें लोग तलाक़ ले लेते हैं। यह तो उनके साथ नहीं हुआ था। इस वाक्य-खण्ड को कविता में सर्वाधिक प्रधानता दी गई थी, जबकि उनके इस निर्णय में उनकी पत्नी का कोई भी दोष नहीं था। दूसरी बात, आप पातिल को छोड़-छाड़ सकते हैं, फोड़-फाड़

तो नहीं सकते न! वैराग्य अगर हुआ तो वह तो ममत्व को फाड़ता है, वस्तु-विशेष को तो नहीं। बुद्ध ही अगर विरक्त हुए तो उन्होंने घर-परिवार को छोड़ दिया। उसे तोड़ तो नहीं दिया न!'

'बाप रे! अद्भुत बात कही आपने! इस बारे में और कुछ?'

'जो भी हो, लेकिन उनकी असाधारण बुद्धिमता ने एक बार हमें चकित कर दिया था। सोचिए, वैदेह जी क्या थे? एक साधारण ग़रीब आदमी! ऐसे कितने ही हारे हुए लोग हर साल गुदरिया संन्यासी होकर घरों से भाग जाते थे। उस जमाने की मिथिला के लिए यह साधारण बात थी। सोचिए, इनमें से कितने लोगों के संन्यासी बनने का समाचार अख़बार में छपता होगा? क्यों छपेगा? इसी तरह वैदेह जी भी एक अज्ञात संन्यासी बनकर रह जाते। लेकिन, उन्होंने वह विलक्षण कविता बनाई और 'मोद' में भेज दिया। उसका व्यापक प्रचार हो गया। उनकी कविता का शब्द-शब्द ऐसा था कि उनके प्रति ममत्व और अनुराग जगा देता था। आह उठती थी।'

'लेकिन आप कह रहे थे वह कविता ग़लत थी!'

'वह दूसरी बात है। कविता का प्रभाव बहुत गहरा था। वह बहुत मार्मिक कविता थी। उसी कविता ने मिथिला के हृदय में यात्री जी को खचित कर दिया।'

'फिर आगे क्या हुआ?'

'काफ़ी समय के बाद एक दिन 'सर्चलाइट' अख़बार में पढ़ा कि किसान नेता सहजानंद सरस्वती के साथ भिक्षु नागार्जुन, हज़ारीबाग सेन्ट्रल जेल में क़ैद हैं। तबतक हम जान गए थे कि भिक्षु नागार्जुन उन्हीं का नाम था। समाचार पढ़कर मेरे मन में भी एक नए विचार का उदय हुआ। मेरे पास उनकी ढेर सारी अप्रकाशित कविताएँ थीं। कुछ तो आज तक हैं। मैंने अपने बस्ते से उनकी एक कविता निकाली, कविता के नीचे लिखा—रचयिता—श्री वैदेह, संकलयिता—श्री किरण। कविता 'मोद' में छप गई। पत्रिका के अंक का मैंने पैकेट बनाया, और उन्हें जेल के पते पर भेज दिया।'

'पत्रिका उन्हें मिली?'

'हाँ, मिली। और, उन्होंने प्रत्युत्तर में मुझे बड़ा ही मार्मिक एक पत्र लिखा। लिखा कि आपने मेरे पिछले जीवन, घर-परिवार, इष्ट-मित्र, मिथिला-मैथिली सबकी याद दिला दी। मुझे बहुत अफ़सोस है। जेल से छूटने का समय क़रीब आ गया है। छूटते ही मैं आपके पास आता हूँ।'

'क्या, वह आए?'

'हाँ। एक दिन दोपहर मेरे आवास पर आए। मैं घर में नहीं था। मेरे बड़े लड़के से उन्होंने कहा कि बाबू को बोल देना, कल दोपहर डेढ़ बजे ललिता घाट खोह

में आवें, भूलना नहीं। मेरे पड़ोसी उग्रानंद झा थे, उनसे भी उन्होंने यही सम्वाद कहा। संन्यासियों के बाना में थे। किसी बौद्ध स्थल में टिके थे। अपना नाम–ठिकाना कुछ भी नहीं बताया था। ललिता घाट दोपहर दिन को सुन्न मशान बना रहता था। काशी के संन्यासियों का यक़ीन करना भी मुश्किल! लेकिन, मैं तुरन्त समझ गया कि यह अष्टम्यंत ढंग वैदेह जी का ही हो सकता है!'

'दूसरे दिन मुलाक़ात हुई होगी?'

'हाँ। निश्चित समय पर मुलाक़ात हुई। उनका वह भेस, भरी–भरी–सी आँखें और भर्राया–सा स्वर अब भी मेरे मन में बसा हुआ है। लगता है जैसे कल की ही घटना हो।'—किरण जी भावुक हो गए।

'ऐसा क्यों था? क्या यह अपने किये पर पछतावा था?'

'नहीं। सीधा–सीधी आप उसको पछतावा भी नहीं कह सकते। वह जीवन के दूसरे पक्ष का प्रकटीकरण था, जिसकी उपेक्षा उनसे हुई थी। दूसरी बात यह थी कि उनके घर–परिवार, कुल–कुटुम्ब, इष्ट–मित्र, देस–कोस का पहला आदमी मैं था, जिससे वह मिल रहे थे। खैर। उनका अनुभव तो मैंने बहुत संक्षेप में सुना। मुझे अपनी बात कहनी थी। वह मैं देर तक कहता रहा। मैंने उनसे लौट आने का अनुरोध किया। साफ़–साफ़ कहा कि आप इसके लिए नहीं बने हैं। आपकी यह जगह नहीं है। मेरी बात सुनकर वह चंचल हो जा रहे थे। लेकिन अविचलित रहने का जो मंत्र पड़ा था वह भी अपना काम कर रहा था।'

'उनपर क्या असर हुआ? क्या वह लौटने के लिए तैयार हो गए?'

'यह इतना आसान नहीं था। हाँ, हुआ यह कि हमलोग सप्ताह में कम से कम एक बार ज़रूर मिलने लगे। मैं अपनी बात को पकड़े रहा। हर बार नए तरीक़े मैं अपनाता। कोशिश जारी रही। तब, कुछ दिन बाद उन्होंने कुछ संकेत दिया कि मेरी बात पर वह ग़ौर कर रहे हैं। लेकिन, यह भी कहा कि कुछ दिन तिब्बत होकर आता हूँ। फिर...'

'फिर क्या हुआ?'

'हो गया। कुछ दिन के बाद वह मिले तो वैद्यनाथ मिश्र के रूप में। उन्होंने अहिबात की लाज रख ली थी। मैंने उनसे मैथिली में लिखने का अनुरोध किया। उन्होंने माना। 'कविक स्वप्न' कविता इस दौर की उनकी पहली कविता थी। जैसा कि मुझे याद आता है, इसे हमने 'मोद' के अप्रैल 1941 अंक में प्रकाशित किया था। इन्हीं दिनों उन्होंने 'बूढ़ वर' और 'विलाप' शीर्षक कविताएँ लिखी थीं। इन कविताओं में आप देख सकते हैं कि मातृभूमि की पीड़ा कितनी मार्मिक रूप में

झलकती है। यह भिक्षु संन्यासी का हृदय नहीं हो सकता। वह बदल गए थे।'

'फिर?'

'फिर एक दिन उन्होंने कहा कि मेरी कविताओं को यदि कोई पुस्तिका-रूप में प्रकाशित करवा देता तो मैं ज़्यादा काम कर सकता। मैथिली का प्रचार भी होता, अपनी रोज़ी-रोटी भी चलती। इस तरह मैथिली की अधिक सेवा कर पाता। यह बात उन्होंने मुझसे कही। मुझे उनकी बात बहुत अच्छी लगी। यह मेरे लिए बहुत उत्साहवर्द्धक था। काम तो कोई मुश्किल था ही नहीं। दोनों कविताओं की अलग-अलग पुस्तिका छपवाई गई। एक-एक हज़ार का संस्करण था। इसे लेकर गाँव गए। उन्हीं दिनों सौराठ-सभा थी। उसमें तो समझिए छुहुक्का उड़ गया पुस्तिका का। वे कविताएँ बहुत चर्चित हुईं। जस-जस हो गया।'

'लेकिन, इन कविताओं पर विद्वानों की क्या राय थी?'

'बहुत खराब राय थी। 1941 में आचार्य रमानाथ झा ने 'मैथिली गद्य-पद्य-संग्रह' का सम्पादन किया था। यात्री जी की कई मार्मिक कविताएँ तबतक प्रकाशित हो चुकी थीं। उन्हें काफ़ी लोकप्रियता भी मिल चुकी थी। मैथिली कविता में यह नए युग का संकेत था। लेकिन, यात्री जी को उस संग्रह में नहीं शामिल किया गया। सच पूछिए तो तभी मुझे लग गया था कि रमानाथ बाबू की दृष्टि पक्षपाती दृष्टि है, नीर-क्षीर विवेकी नहीं। बाद में, यात्री जी ने एक और बात मुझे बताई थी। हुआ यह कि 'बूढ़ बर' और 'विलाप' पुस्तिकाओं से जब उन्हें बहुत यश मिला, थोड़े दिनों में ही सारी प्रतियाँ खप गईं तो इससे उत्साहित होकर वह एक दिन दरभंगा जाकर रमानाथ बाबू से मिलने पहुँचे। उन्हें दोनों पुस्तिकाओं की प्रति दी। रमानाथ बाबू ने उलटा-पुलटाकर देखा और उनपर बरस पड़े, 'क्या अंट-संट लिखते हैं! कोई अच्छा विषय दिमाग़ में नहीं आता?'

'इस प्रतिक्रिया से यात्री जी बहुत आहत हुए थे। बाद में देखा कि रमानाथ बाबू ने उन्हें 'महाकवि' का दरजा दिया। देंगे कैसे नहीं आप? जो सच है, उसको तो कबूल करना ही पड़ेगा। लेकिन, आप अपना कर्त्तव्य तो पूरा नहीं कर पाए न? पहचान ही नहीं सके!'

'फिर आगे?'

'आगे क्या? आगे की कहानी पूरी दुनिया जानती है। देखिए, उनपर मुझे बहुत गर्व है। उन्होंने मेरा सिर ऊँचा किया है, मुझे मनोबल दिया है। जानते हैं कैसे?'

'कैसे?'

'जिस विचारधारा को लेकर मैं हमेशा उत्पीड़ित होता रहा, यहाँ तक कि सभ्य

समाज से वहिष्कृत कर दिया गया, उसी विचारधारा को लेकर यात्री जी आज समूचे देश-दुनिया में अभिनन्दित हो रहे हैं। आप समझ सकते हैं कि उनपर मुझे कितना गर्व हो सकता है!'

बिहार का एडमिनिस्ट्रेटिव ट्रेनिंग इन्सटीच्यूट राँची में था। बिहार प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को अकादमिक प्रशिक्षण के लिए वहीं भेजा जाता। वहाँ तीन महीने का कोर्स करना होता था, जिसमें औपचारिक कक्षाएँ होतीं, सेमिनार होते, और विभिन्न क्षेत्रीय कार्यालयों में जाकर, परियोजना-स्थलों पर जाकर व्यावहारिक बातें भी सीखनी होती थीं। कक्षाएँ सीनियर आई. ए. एस. ऑफ़िसर और सेवानिवृत्त अन्य अधिकारी लोग लिया करते। इसके अतिरिक्त, बिहार प्रशासनिक सेवा में नियमितीकरण के लिए आठ पेपर की परीक्षा भी पास करनी होती थी। इन पेपरों में तमाम तरह के कानून और सरकारी नियम-कायदे के प्रावधान आते थे। इस परीक्षा का बहुत आतंक था। हम सुना करते कि कई सारे ऐसे अधिकारी भी थे जो दस-बारह वर्षों की सेवा पूरी कर लेने के बाद भी अब तक आठों पेपर विभागीय परीक्षा पास नहीं कर पाए थे, फलस्वरूप न तो उन्हें इन्क्रीमेन्ट दिया गया था, न सेवा नियमित हो पाई थी।

दिसम्बर 1994 में सरकार ने हमें इस इन्स्टीच्यूट के लिए विरमित किया। हमारे बैच में साठ लड़के-लड़कियाँ थे। वे बिहार के विभिन्न ज़िलों से आए थे, जहाँ व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए उन्हें भेजा गया था। पहली बार हमारे ये बैचमेट एकत्र हुए थे। हमने जल्द ही पाया कि किसी के भी पाँव सीधे-सीधे ज़मीन पर नहीं पड़ते थे। हर कोई ख़ुद को धरातल से सवा बित्ता ऊपर पाता था। जनम-भर की साध पूरी हो गई हो मानो। हर किसी की अपनी-अपनी प्राथमिकता थी, मगर सबकी जड़ में थी मस्ती। ए. टी. आई. का हॉस्टल बढ़िया था। भोजन-व्यवस्था भी अच्छी थी, जो प्रशिक्षुओं की कमिटी द्वारा संचालित की जाती। वेतन मिल ही रहा था। उत्तम भोजन, उत्तम आवास की व्यवस्था थी ही। हर कहीं आनंद-आनंद का आलम छाया रहता था। भिनसरबा रात को भी आप किसी-न-किसी कमरे से गर्दभ-स्वर की रागिनी या मादल की बेसुरी थाप सुन सकते थे। हर तरह से लगता था कि इनके जीवन में ये कुछ दिन पहली बार और आख़िरी बार आए थे। आगे तो जब वे शहर जाएँगे तो कोतवाली सीख ही लेंगे।

मेरा पहला सप्ताह अकबकाहट में बीता। राँची मेरे लिए नई जगह थी। पहली बार आया था। जितनी जानकारी थी उस जगह के बारे में, वह रोमांचित करती थी।

जानता था कि बाबा इस जगह को बहुत पसंद करते हैं। मालूम था कि यह जगह रवीन्द्रनाथ को भी बहुत पसंद थी। यहाँ आदिवासी थे, जिनके बारे में सामान्य समझ थी कि वे आदमीयत के सबसे क़रीब होते हैं और इस मतलबी दुनिया ने सबसे ज़्यादा छल उन्हीं के साथ किया है। बंगाली थे, उनकी संस्कृति का खुलापन और खिलापन माहौल में व्यक्त दिखता था। मैथिल थे, उनकी संस्थाएँ थीं। कई मैथिली लेखकों ने राँची में रहकर बड़े-बड़े काम किए थे। इनमें रामकृष्ण झा किसुन भी थे, राजेश्वर झा, राजमोहन झा भी। मोहन भारद्वाज, भीमनाथ झा और उपेन्द्र दोषी इस परिसर की पहचान की तरह जाने जाते थे। हर साल यहाँ विद्यापति-पर्व होता था, और मेरे प्रिय कवि जीवकांत को इसी राँची ने 'वैदेही सम्मान' से सम्मानित किया था। फिर, ढेर सारे पर्यटन-स्थल थे। पहाड़ की वादियाँ थीं, सुदूर घाटियों में आदिवासियों के खेत थे। झरने थे, पिकनिक स्पॉट थे। कुल मिलाकर यह शहर पटना से ज़्यादा खिला-खिला, खुला-खुला दिखता था। मैंने महसूस किया कि इस शहर को बनाता था पहाड़, और इसे सजाता था जंगल और इसमें प्राण फूँकते थे इसके अधिवासी, यहाँ का बाज़ार तो केवल इसमें चमक भर पैदा करता था। शहर को मुहल्लों की भौगोलिक सीमा में देखना मुझे अपर्याप्त लगा था, और तभी बात समझ में आई थी कि बाबा-जैसे लोगों को प्रिय लगने की पात्रता इसने कहाँ से अर्जित की होगी।

सप्ताह बीतते-बीतते मेरी अकबकाहट दूर हो गई थी। इसमें सबसे बड़ी भूमिका डॉ. लालमोहन महतो ने निभाई थी। वह मेरे बैचमैट थे। मूलतः पशुचिकित्सक थे। उधर से ही प्रशासनिक सेवा में आए थे। इसी ज़िले के निवासी थे। दस-बारह किलोमीटर की दूरी पर उनका गाँव था, जहाँ उनका परिवार रहता था और उनकी खेती-बाड़ी थी। वह सप्ताहांत में गाँव जाते। दोस्ती हुई तो एक बार मैं भी गया। लालमोहन जी के चाचा स्थानीय कालेज में अर्थशास्त्र के अध्यापक थे। वह अक्सर चर्चा करते कि चाचाजी आपके ही टाइप के व्यक्ति हैं। पहली बार उनके गाँव गया तो चाचाजी से मिलने की उत्सुकता थी। पता चला कि वह खेत पर गए हैं। हम भी चले खेत की तरफ़। वहाँ जाकर जो देखा वह दृश्य मेरे लिए इतना अद्भुत था कि कोई कह न सके। प्रोफ़ेसर साहब हल जोत रहे थे। मैं मिथिला का आदमी ठहरा, जहाँ दूसरों से काम कराने को शान समझा जाता है और ख़ुद काम करना पड़े तो लोग कहते हैं कि बुरे दिन चल रहे हैं। मेरे तो नैन जुड़ा गए और मिनटों में मेरी प्राथमिकता तय हो गई। अब आगे यह होने लगा कि दोनों मित्र सप्ताहांत में उनके गाँव जाते। वहीं जमते या फिर कहीं और, किसी पर्यटन-स्थल पर, किसी मेले में,

किसी व्यक्ति-विशेष से मिलने निकल जाया करते। बाक़ी समय अकादमिक पढ़ाई-लिखाई और वह सारा कुछ जो ए. टी. आई. तय करे। अपने लिए तय यह हुआ कि भाई, आ ही गए हो तो ज़रा कायदे से आओ। मतलब, आठों पेपर विभागीय परीक्षा पास कर लो।

विभागीय परीक्षा साल में दो बार होती थी, और अगली परीक्षा फरवरी में होनेवाली थी। मैंने कहा—रे मना, निकाल ले इसे। पढ़ी हुई आँखें थीं, और सधा हुआ मन। किया मैंने बस इतना भर कि कानून की पढ़ाई में मस्ती खोज ली। आस-पास गर्दभ-राग चलता रहता और इधर हम अपने आनंद में मगन पाए जाते। सरकार ने एक विशेष प्रावधान यह भी रखा था कि यदि कोई प्रशिक्षु अधिकारी सेवा आरंभ करने के एक वर्ष के भीतर एक ही प्रयास में आठों पेपर एक साथ पास कर ले तो उसे ताउम्र एक स्पेशल इन्क्रीमेन्ट का लाभ दिया जाएगा। ख़ुशी हुई कि यह मुझसे हो पाया। और, ख़ुशी हुई कि लालमोहन जी के सौजन्य से राँची-परिसर की आत्मा से साक्षात्कार कर पाया। बाक़ी शहर का रमन-चमन तो बाद को भी भोगा ही जा सकता था।

फरवरी बीतते-बीतते बाबा का दूसरा पत्र आ गया था। एक पत्र पहले आया था, जिसमें मामूली सूचनाओं का आदान-प्रदान था। इस बार बाबा ने सूचित किया था कि 11 मार्च को वह पटना आएँगे और साहित्य अकादेमी के कार्यक्रम में शिरकत करेंगे। उन्होंने उम्मीद जताई थी कि तब तक इधर का मेरा काम पूरा हो चुका होगा और पटने में मैं उनसे मिल सकूँ, यह अवसर निकल आ पाएगा। यह पत्र उन्होंने दिल्ली से लिखा था।

साहित्य अकादेमी में मैथिली का प्रवेश 1965-66 में हुआ था। इसके लिए एक लम्बा संघर्ष चला था, जिसकी अगुआई इलाहाबाद में रहनेवाले डॉ. जयकांत मिश्र ने की थी। वह वहाँ अंग्रेज़ी के प्राध्यापक थे, मैथिली भाषा और साहित्य के उन्नयन के लिए जी-जान से समर्पित रहने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने ही पहली बार मैथिली साहित्य का इतिहास अंग्रेज़ी में लिखा था। बाबा की मैथिली कविताओं का पहला संग्रह 'चित्रा' उन्होंने ही प्रकाशित कराया था और उसकी भूमिका भी लिखी थी। साहित्य अकादेमी में उनके प्रतिनिधित्व के दौरान ही 1968 में बाबा की कविता पुस्तक 'पत्रहीन नग्न गाछ' को साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला था।

लेकिन, यह सब अब बीते दौर की बात हो चुकी थी। साहित्य अकादेमी

का प्रतिनिधित्व अब, कभी भी लौटने न देने की ज़िद और संकल्प के साथ दरभंगा आ गया था। दरभंगा कट्टरपंथी सनातनियों का गढ़ था, और इसके आका पण्डित सुरेन्द्र झा सुमन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरीय कार्यकर्त्ता थे, और मैथिली के सबसे बड़े महाकवि के तौर पर जाने जाते थे। आर. एस. एस. के राजनीतिक दलों की ओर से वह विधायक भी हो चुके थे, और सांसद भी। साहित्य अकादेमी की औकात नहीं थी कि उसे मैथिली में आना होता और वह वहाँ न जाकर कहीं और जाती। सुमन जी ही मैथिली के कर्त्ताधर्त्ता थे। वह बाबा से घोषित तौर पर नफरत करते थे। इधर, बाबा के इस कथन से भी हर कोई वाकिफ था कि 'मैथिली ब्राह्मणवाद के गछाड़ में सकपंज पड़ी है। महन्त गद्दी पर विराजमान हैं और उनके चेले-चाटी लूझमलूझ मचाए हुए हैं।'

हम जैसे लोग नवागन्तुक थे और बहुत बड़े-बड़े सपने लेकर मैथिली साहित्य में आए थे। ये सपने हमें विद्यापति और यात्री नागार्जुन से मिले थे। उन पुराने दिनों में, जब भाषा नए भाव-बोध को वहन करने में नाकाम साबित हो रही थी, हमारे विद्यापति अवहट्ठ और देसिल वयना लेकर आए थे। उस सामंती युग में स्त्री की पीड़ा का आख्यान रचना पुरानी भाषा में कब संभव था? ठीक यही काम बीसवीं सदी में अपने इस बाबा ने किया था। अब हमें उनके काम को आगे ले जाना था। हमें दीखता कि बहुत कुछ था, जो बचा रह गया था। बहुत कुछ था, जिसे हमारे माध्यम से अभिव्यक्त होना था। हम अपनी सार्थकता तलाशने की कोशिश करते। सार्थकता इस बात में दिखती थी कि हम कुछ ऐसा रच पाएँ, जिससे हमारी भाषा की क्षमता बढ़ जाए। लेकिन माहौल बहुत नकारात्मक था। नई सोच, नई अभिव्यक्ति के लिए जो स्पेस था भी, वह दिनोंदिन घटता जाता था। लोग विरोध करते, लेकिन बड़ी ही स्किल्ड बेशरमी से उसकी 'वार्त्ता' लेने से, परवाह करने से, इनकार कर दिया जाता।

और तब, ऐसा हुआ था कि हम कुछ गिने-चुने नौजवानों ने साहित्यिक उग्रवादी के तौर पर विरोध का झंडा थाम लिया था। हम खुलकर सामने आ गए थे। हमने बिना लाग-लपेट के, सीधी अख़बारी भाषा में विरोध करना शुरू किया। हम महन्थ के मुहल्ले में उनके दालान के पास तक चले जाते और सड़क पर खड़े होकर, ज़ोर-ज़ोर से बोलते हुए बताने लगते कि मातृभाषा को मार डालने के लिए महन्थजी क्या-क्या कुकृत्य कर रहे हैं। अविनाश थे, सारंग कुमार और संजीव स्नेही थे, राकेश कर्ण थे। फिर, देवशंकर नवीन थे। आगे अजित आजाद आए। गौरीनाथ (अनलकांत) आए। मैथिली में हमारे विरोध का मंच 'वैदेही' मासिक था और हिंदी में 'हंस'।

राजेन्द्र यादव मैथिली के इस 'मुक्ति-संग्राम' में अच्छी दिलचस्पी लेते थे। वैदेही-सम्पादक कृष्णकांत मिश्र, यद्यपि कि प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, लेकिन नौजवानों के स्वर को तरजीह देने के लिए बदनाम थे। एक जमाने में उन्होंने ही राजकमल चौधरी जैसे विद्रोही स्वर के लिए मंच मुहैया कराया था। ख़ैर, यह सब फिर कभी।

हाल के दिनों में थोड़ी-बहुत सफलता हमें मिली थी। साहित्य अकादेमी का ताजा पुरस्कार पण्डित गोविन्द झा को दिया गया था। थे तो वह भी पण्डित, लेकिन बाग़ी पण्डित थे और हमारे प्रिय। पुरस्कार की घोषणा के बाद पण्डित जी ने कई मंचों से यह बात कही थी कि उन्हें यह पुरस्कार देने का श्रेय किसी को भी नहीं, सिर्फ़ और सिर्फ़ उग्रवादी अभियान को है। इधर, पण्डित सुरेन्द्र झा सुमन आदि का कार्यकाल पूरा हो चुका था और अब मैथिली से बाहर के एक मैथिली-सेवी डॉ. सुरेश्वर झा को अकादेमी का प्रतिनिधि बना दिया गया था। समझ यह थी कि उन्हें अपनी कोई समझ तो है नहीं, जो महन्थ जी कहेंगे, वही वह करेंगे। इसके आगे तो फिर यही सिलसिला चल निकला। इन प्रतिनिधियों ने दगाबाजी न की हो, या अपने मन का न किया हो, ऐसा भी नहीं। मगर, मैथिली के भाग्य में इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं था।

डॉ. सुरेश्वर झा राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक थे। पटना विश्वविद्यालय से अपनी पढ़ाई-लिखाई के दौरान वह बाबा की संगत में रह चुके थे। 1954 में जब मैथिल नौजवानों के सहयोग से बाबा ने मैथिली भाषियों की एक केंद्रीय संस्था के रूप में चेतना समिति (शुरू में इसका नाम 'चेतना गोष्ठी' था) की स्थापना की थी तो इसमें डॉ. सुरेश्वर झा ने बड़ी ही सक्रिय भूमिका निभाई थी। अब वह साहित्य अकादेमी के प्रतिनिधि थे। मैथिली की दुनिया में यह पहली-पहली बार हो रहा था कि साहित्य अकादेमी, चेतना समिति के साथ मिलकर 'मैथिली गद्य का विकास' विषय पर दो दिनों का सेमिनार करने जा रहा था। यह सेमिनार 12-13 मार्च 1994 को विद्यापति भवन में हो रहा था। और, इसमें विशिष्ट अतिथि के रूप में बाबा को आमंत्रित किया गया था। मज़े की बात यह थी कि पहली-पहली बार मुझे भी किसी मैथिली सेमिनार-टाइप के आयोजन में वक्ता के रूप में बुलाया गया था। मुझे मैथिली में अनूदित गद्य के बारे में पेपर पढ़ना था। और भी मज़े की बात यह थी कि 9 या 10 मार्च को ए. टी. आई. का प्रशिक्षण पूरा हो जाने के बाद हमें विरमित भी किया जा रहा था।

सेमिनार में 25–30 विद्वान टाइप के लोग आए हुए होंगे। ये आमन्त्रित वक्तागण थे। यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों को भी आमन्त्रित कर बुलाया गया था, ताकि उनका 'ज्ञानवर्द्धन' किया जा सके। चूँकि मैथिली में यह पहली–पहली बार हो रहा था, (और, हो भी सिर्फ़ इसीलिए रहा था कि प्रसिद्ध मैथिली कथाकार अशोक उन दिनों चेतना समिति के महासचिव थे, जिनकी पूरी चली होती तो आयोजन शानदार हो सकता था।) इसलिए बहुत सारे लेखक भी उत्सुकतावश इसमें चले आए थे। आर. एस. एस. की समझदारी लेकर चूँकि इसका संयोजन किया गया था, आप समझ सकते हैं कि इसका क्या स्वरूप रहा होगा। तकनीकी अर्थ में जिन्हें 'मैथिली का विद्वान लेखक' कहा जाए, उनके लिए मैथिली का प्राध्यापक होना और दो–चार शोधप्रज्ञों को पी–एच.डी. में मार्गदर्शन किया हो, यह अनिवार्य योग्यता मानी गई थी। ये हमेशा यही मानते आए थे। आगे भी उन्हें हमेशा यही मानते रहना था। लेकिन इस सेमिनार के साथ दिक़्क़त यह थी कि यहाँ यात्री नागार्जुन आ रहे थे, उग्रवादी नौजवान भी शिरकत कर रहे थे और उत्सुकतावश बहुत सारे गंभीर लेखक भी बिन बुलाए देखने–सुनने चले आए थे। सो, सेमिनार का दूसरा दिन बीतते–बीतते यह निर्णय हो गया कि इस जुटान का कुछ सार्थक उपयोग कर लिया जाए।

सार्थक उपयोग के उस विचार का उदय सुभाष भाई (प्रख्यात कथाकार–आलोचक डॉ. सुभाष चंद्र यादव) के मन में हुआ था। उन्होंने इसे भाइ साहेब (प्रख्यात कथाकार राजमोहन झा का लोकप्रिय नाम) के साथ साझा किया। भाइ साहेब कुछ ज़्यादा ही उत्साहित हो गए और बाबा के पीछे पड़ गए। विचार यह था कि बाबा के साथ मैथिली लेखकों की एक बातचीत आयोजित की जाए। यूँ तो बाबा को पचास बहाने आते थे, लेकिन वह 'घाम' गए। इसके पीछे दो–तीन बातें थीं। एक तो वह बहुत दिन बाहर रहकर लौटे थे। दूसरे, उन्हें अगले कुछ दिन इधर ही रहना था। तीसरे, मैथिली के अपने प्रिय नौजवानों के साथ गपसप का लोभ भी था। मोहन भारद्वाज (प्रख्यात मैथिली आलोचक) ने आतिथ्य का जिम्मा सम्भाला। उन दिनों वह महालेखाकार कार्यालय में कार्यरत थे, और आर. ब्लॉक में उन्हें आवास आवंटित था। इसी आवास में सबके जुटने का कार्यक्रम तय किया गया। बाबा लेखकों से मिलेंगे, यह बात चारों ओर फैल गई थी। बड़ी संख्या में युवा लेखक जुट गए। इनमें अरुण नारायण जैसे लोग भी थे, जो मैथिली लेखक तो नहीं थे, लेकिन मैथिली लेखकों की शोहबत में रहते–रहते मैथिली लेखकों–जैसे लगने लगे थे। लोगों की तायदाद काफ़ी बढ़ गई। आवास का बरामदा और ड्राइंग रूम छोटा पड़ गया। बाबा के साथ सुविधाजनक ढंग से अधिकतम दस लोग बैठ सकते थे, जबकि मौजूद लोग

पचास से कम नहीं थे। कुल बात यह कि इस कार्यक्रम के उत्साह ने पूरे परिदृश्य को उत्साहित कर दिया था। स्वयं बाबा भी काफ़ी उत्साहित थे।

तकनीकी अर्थ में जिसे इन्टरव्यू कहते हैं, उसकी सीमा में बाबा को बांध पाना कितना मुश्किल है, कहना चाहिए कि असंभव है, इसकी जानकारी सभी को थी। लेकिन इतना बड़ा आयोजन हो, इतने लोगों के साथ बाबा बात करें, और इसकी कोई प्रबन्धन-व्यवस्था न हो, सुभाष भाई को यह कभी भी मंजूर नहीं हो सकता था। पिछली देर रात तक इस पर उन्होंने चिन्तन किया था और अत्यंत व्यापकता में जाकर तीस मोटे प्रश्नों की एक सूची बना ली थी, ताकि बातचीत को बहेड़ होने से बचाया जा सके। इसमें भाइ साहेब की भी सम्मति थी। फिर, इस बातचीत में प्रमोद कुमार झा भी थे, जो उन दिनों पटना दूरदर्शन में अधिकारी थे। उन्होंने पूरी बातचीत को रिकॉर्ड करने की व्यवस्था की थी। ऐसे लोग, जो बाबा के साथ बातचीत बढ़ाने की कला में निपुण थे, उन्हें पहली पाँती में बैठाया गया। इनकी अगुआई शोभा भाई (शोभाकांत) कर रहे थे। बाबा को हियरिंग एड लगवाया गया था। भाइ साहेब पर लय बनाए रखने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। उन्हें सीधा-सीधी कोई प्रश्न तो नहीं करना था, लेकिन बाबा की बातों में स्पष्टता है और वजन है, यह बात बाबा को कम्युनिकेट करने के लिए जगह-ब-जगह गहरी मुस्कान मुस्कानी थी, या फिर जुमला-सा कुछ उछाल देना था, ताकि बाबा का मूड बना रहे। या, फिर ज़रूरी समझें तो प्रश्न भी पूछ लें, लेकिन उनकी अलग से कोई प्रश्नावली नहीं थी।

बाद में, रिकॉर्ड की गई बातचीत के आधार पर सुभाष भाई ने इस साक्षात्कार को संक्षेप में लिप्यंतरित किया था, और 'समकालीन भारतीय साहित्य' के अक्टूबर-दिसम्बर 1995 के अंक में यह प्रकाशित भी हुआ था। मैथिली में इस साक्षात्कार को प्रमोद जी के अनुज आशुतोष कुमार झा ने भी संभवतः प्रकाशित कराया था।

याद आता है, कमरे में सारी चीज़ें व्यवस्थित कर ली गई थीं, लोग दम साधकर चुपचाप बैठ गए थे, आसपास के माहौल को भी शांत-साकांक्ष बना लिया गया था, सुभाष भाई ने प्रश्नावली हाथ में निकाल ली थी, प्रमोद जी ने रिकॉर्डर ऑन कर दिया था—कायदे से अब पहला प्रश्न किया जानेवाला था... कि बाबा पास बैठे भाइसाहेब की तरफ़ अचानक मुखातिब हुए और उनसे पूछ दिया, 'क्या सब बताया जाए?'

किसी ने सुना, किसी ने सुना भी नहीं। हम-जैसे कुछ लोग भीतर-ही-भीतर मुस्कुरा दिए। लेकिन, भाइसाहेब ने उन्हें जवाब दिया, 'वह तो आप बताएँगे न! मैं कैसे कहूँ!'

बाबा चुप हो गए। ज़रा-ज़रा आत्मस्थ-जैसे। इधर-उधर देखा, लेकिन सुभाष

भाई की ओर नहीं देखा। इसका मतलब था कि सुभाष भाई अभी प्रतीक्षा करें। रिकॉर्डर ऑन था। सबकी नज़र बाबा पर थी।

बाबा ने अपना साक्षात्कार स्वयं शुरू किया, 'अभी-अभी जो चेतना समिति में संगोष्ठी हुई; उसे 'संगोष्ठी' तो क्या कहा जाए 'संगोष्ठा' कहा जाए—उसके संबंध में कुछ बातें कहना चाहता हूँ।'

सेमिनार की अव्यवस्था और नाकामयाबी को उघाड़कर तार-तार कर देने के लिए यह एक शब्द 'संगोष्ठा' ही काफ़ी था। सबलोग हँसने लगे। बाबा भी खिलखिलाकर हँसे।

'उसमें सबसे बड़ी कमी जो मुझे दिखाई पड़ी, वह ये कि उसपर अध्यापक वर्ग हाबी था। एक तो सुरेश्वर झा ख़ुद अध्यापक। उसपर से अध्यापक ही अध्यापक! अब सोचिए कि आरसी प्रसाद सिंह का कहीं नाम ही नहीं। आप उन्हें नहीं बुलाएँगे तो इसमें आपकी दरिद्रता प्रकट होगी न! उनका क्या जाएगा? उस पर से और क्या कि समय की कोई सीमा ही नहीं। कोई आधा घण्टा बोल रहा है, कोई एक घण्टा बोल रहा है। और बोल क्या रहा है? सिर्फ़ बोल ही रहा है कि कुछ कह भी रहा है! समझिए, भाषण को दूहा गया।'

सबलोग फिर हँसने लगे।

सुभाष भाई ने अपना काम शुरू करना चाहा, 'बाबा, बचपन की कोई जीवंत स्मृति?'

बाबा लेकिन अपने रौ में थे, 'वह होगा, वह होगा। मुझे पहले यह बात कह लेने दीजिए।'

फिर 'यहाँ' बात कहने लगे, 'गोष्ठी का आर्थिक संयोजन दिल्लीवालों का था, लेकिन सांस्कृतिक पक्ष तो पटनावालों के जिम्मे था। उसमें बहुत कमी थी। इतना समय और पैसा देकर यही उपलब्धि? इसके बदले एक सुव्यवस्थित एक-दिवसीय गोष्ठी हो सकती थी। उसी में काव्य-संध्या भी करा देते। दस चुनी हुई कहानियाँ लेकर गल्प-गोष्ठी करवा देते। उसमें सार दिखता। रचनात्मक उर्वरता के हिसाब से इस गोष्ठी की क़ीमत चार आना...'

भाइसाहेब की मुस्कुराहट बाहर तक निकल आई, 'आपने कुछ ज़्यादा क़ीमत लगा दी। चार आने भी कम नहीं होते।'

बाबा जारी रहे, 'आलोचना का यहाँ भूँजा भूना गया साहब! ऐसे होता है? किदवई साहब (बिहार के राज्यपाल) आए, दीप जला गए।'

और, अपनी ही अभिव्यक्ति पर ख़ुद उन्हें हँसी छूट गई। भीतर से हँसे। एक

लाइन बोलते, फिर हँसते। इस तरह हँसते, जैसे अंदर-ही-अंदर उन्हें कोई गुदगुदी लगा रहा हो।

'यहाँ, बिहार में तो जो सेकुलर राज्यपाल आते हैं, उनके कर्म में भारत का उपराष्ट्रपति बनना लिखा रहता है।'

फिर हँसे।

'लेकिन, मैंने कह दिया था कि आऊँगा तो आ गया। वैसे भी, पटना आना बुरा थोड़े ही लगता है, अच्छा ही लगा। अब उसकी उपयोगिता सोचिए तो वो अलग बात है!'

सुभाष भाई ने फिर ट्राय मारा, 'मिथिला की स्मृतियाँ बार-बार बुलाती होंगी!'

'वह बात नहीं भाई। यह गोष्ठी अगर दरभंगा में होती, सहरसा में होती, पूर्णियाँ में होती, तो ज़्यादा अच्छा होता!'

प्रमोद जी ने तरीक़ा बदलकर बाबा को साधने की कोशिश की, 'वैसे बाबा, इस गोष्ठी से कोई नई बात सामने आई?'

बाबा फीकी हँसी हँसे और पूर्ववत असाध्य बने रहे, 'नई बात जो आई वह तो मैंने बता ही दी। नई बात यह कि चार पीढ़ी के लोगों को जोड़कर रखना कठिन होता है।'

बाबा का आशय पीढ़ियों के अंतराल से था। इसी के साथ विचारधाराओं का भी अंतराल। सबको ख़ुश करने की कोशिश, इस बात का आधार लेकर कि आख़िर मैथिली-प्रेम तो सबके भीतर है। इस कोरी भावुकता को वह दो कौड़ी की चीज़ ठहरा रहे थे। वह यह भी कह रहे थे कि इन आयोजकों के नज़रिये से आयोजन करके कुछ भी नया और सार्थक नहीं किया जा सकता।

'और, नई बात यह थी कि महिलावर्ग की भागीदारी नहीं थी। वैसे भी, हमारी माँ-बहनें तो रसोई में लगे रहने के लिए ही हैं। लेकिन साहब, गुंजाइश तो निकालनी चाहिए न? मेरा तो विचार है कि टेन्थ क्लास के छात्र-छात्राओं को संयोजन का भार देना चाहिए। वे बेहतर कर सकते हैं।'

फिर, बाबा को अपने किए एक प्रयोग की याद आ गई। बताने लगे, 'कलकत्ता में एक बार हमलोगों ने यह अनिवार्य शर्त्त लगा दी कि पी-एच.डी. या डी.लिट. किए हुए लोगों को प्रवेश न करने दिया जाए। अगर तब भी कुछ प्रणम्य देवता चले ही आते हैं तो उन्हें सामान्य श्रोता-वर्ग की दीर्घा में बैठना पड़ेगा।'

फिर एक बात याद आ गई। बोले, 'एक बार क्या हुआ कि कार्तिकनाथ मिश्र ने मुझसे कहा था कि यात्री जी, कुछ ऐसा प्रोग्राम बनाइए जो दिलचस्प हो! मैंने

कहा—दिलचस्प प्रोग्राम में ख़र्च भी होगा। बोले—मंजूर है। तो, मैंने प्रोग्राम यह बनाया कि सौ लोगों को रोहू मछली का शोरबा खिलाया जाएगा। दिलचस्प तो हुआ न, वैष्णव-जन तो अपने आप छँट गए...'

सब हँसने लगे।

इतनी सारी बातें हो चुकी थीं। वातावरण भी सहज हो चुका था। बाबा मूड में आ गए थे। लेकिन, मुश्किल यह थी कि कायदे से जिसे साक्षात्कार कहा जाए, उसकी शुरुआत भी नहीं हो पाई थी। सुभाष भाई ने तीन-चार बार कोशिश की, लेकिन मामला उनके हाथ से बार-बार फिसल जा रहा था। उन्होंने बजाब्ता प्रश्नावली हाथ में रखी हुई थी, लेकिन उसका श्रीगणेश भी न हो पाया था, जबकि हरबार की अपनी कोशिश में वह एक-एक प्रश्न फलांगते जाते थे।

सुभाष भाई ने फिर कोशिश की थी, 'बाबा, कभी किसी से प्रेम हुआ था?'

'आँय? क्या कहा?'

'प्रेम हुआ था कभी?'

'कविताएँ तो भाई, अब याद नहीं रहतीं।'

मैं तो समझ ही रहा था, कई सारे लोग भी समझ गए कि बाबा न सुनने का बहाना बना रहे हैं। यह उनका पुराना तरीक़ा था। जिस प्रश्न का उत्तर देना उन्हें मंजूर न हो, उसे न सुनने की मुद्रा बनाकर टाल जाते थे। प्राश्निक यदि उनका संकेत समझ जाए तभी उसकी खैर है। अन्यथा, यदि ऊँची आवाज़ में प्रश्न को फिर दुहराने की हिमाकत की जाए तो कुछ भी हो सकता था। धरती काँप सकती थी, बादल फट सकते थे। पर, अभी तो एलार्मिंग सिचुएशन आ पहुँचा था।

अब, परिस्थिति को सम्भालने की बागडोर शोभा भाई ने अपने हाथ में ले ली थी। प्रश्नावली भी अब उन्हीं के हाथ में थी। लेकिन, उसके प्रश्नों से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। बस नाव को मझधार से आगे खींच लेना था।

'सुभाष पूछ रहे थे कि बचपन के आपके बारह-तेरह वर्ष तो गाँव में ही बीते। उस उमर की कोई घटना?'

'पिछले साल गाँव गया था—बस दिन भर के लिए। मेरी कविताओं पर जो डाक्यूमेन्ट्री फ़िल्म तैयार हुई है, उसके डाइरेक्टर दिल्ली से आए हुए थे। दरवाज़े पर आकर सभी बैठे तो मैंने कहा—भाई, अनवर जमाल! तुम भी यहाँ मेरे पास आकर बैठो। वहीं गिरी बाबू बैठे थे। बोले—अँय, यह मुसलमान है! इसके साथ आपने चाय पी? तो, मैंने कहा—उगलनी पड़ेगी?'

बाबा खिलखिलाकर हँसने लगे। सभी हँसने लगे।

शोभा भाई आगे बढ़े, 'उसी यात्रा में सुरेन काका बता रहे थे कि आपलोग बाबाजी-पोखर पर तीन-चार खेल खेला करते थे।'

'हाँ। अमराई में। इस डाल से उस डाल पर। उस डाल से इस डाल पर।'

'उसी समय की किसी घटना के बारे में सुभाष पूछ रहे थे।'

'काव्य-शिक्षा का मूल आधार वहीं तैयार हुआ था। अनू काका बोले थे—आओ बेटा, तुम्हें कविता बनाना सिखाता हूँ। गरमी का मौसम है। रोज आम के बाग़ीचे में जाता हूँ। तुम भी चला करो। तो, उन्होंने सरल संस्कृत में अनुष्टुप छन्द बनाना समझाया। और, समस्या-पूर्ति के लिए पहली समस्या दी—बालानाम् रोदनं बलम्। बच्चे की असली ताक़त उसका रुदन है। यदि उसे आपसे कुछ चाहिए, कुछ ज़रूर ही करवाना है आपसे, तो वह रोने लगेगा। यह समस्या थी पहली-पहली। चार चरण का अनुष्टुप रचना था इस पर। उसे हमने पहली बार किया था। और भी बहुत सारी चीज़ें अनू काका ने मुझे सिखाई थीं। फिर तो मैं काशी चला गया पढ़ने, तो वहाँ हिंदी और मैथिली में लिखने लगा। गाँव में माँ नहीं थी। मैं चार वर्ष का था, तभी उसका देहांत हो गया था। मुझे बुआ ने पाला।'

'सुरेन काका बता रहे थे, प्राइमरी स्कूल में आपके एक अध्यापक थे—रामचंचल झा।'

'रामचंचल झा ने मुझे एक छड़ी लगाई, क्योंकि 'दोष' को मैंने तालव्य 'श' से लिखा था। वह खजूर की पाँच-सात छड़ियाँ हमेशा अपने पास रखा करते थे।'

रामचंचल झा की स्मृति ने बाबा को फिर से हँसा दिया। वह खुलकर हँसते रहे और उन्हें याद करते रहे।

'और भी कभी ऐसा हुआ कि शरारत की वजह से आपकी पिटाई हुई हो?' सुभाष भाई ने पूछा।

शोभा भाई को फिर टपकना पड़ा। उन्होंने प्रश्न को थोड़ा आड़े-तिरछे घुमा दिया, 'सुरेन काका कह रहे थे, एक बार आप अमरूद के पेड़ पर चढ़ गए तो सोनेलाल झा छड़ी लेकर दौड़े थे!'

बाबा को फिर हँसी लग गई। इस बार की उनकी हँसी ने पूरे वातावरण को समेट लिया। चमन-चमन हो गया। हँसते-हँसते बाबा बोले, 'सोनेलाल झा के हाथ में बड़ा डण्डा था। नीचे से वह कोंचने लगे और बोले—सब ख़ुद ही खा लोगे?'

फिर हँसी। ज़बरदस्त हँसी। सुभाष भाई ने पूछा, 'कबड्डी वग़ैरह भी खेला करते थे?'

'ना भाई। मैं कमज़ोर आदमी ठहरा। इन चीज़ों से हमेशा दूर ही रहता था।'

और फिर ठहाका। निर्मल-निर्मल ठहाका।

शोभा भाई ने बात आगे बढ़ाई, 'तरौनी से तो आप गनौली गए थे पढ़ने। तो, वहाँ गनौली में किसके यहाँ ठहरे थे?'

'मेरा सहपाठी था कृष्णकांत। उसके मामा जयनाथ ने उससे कहा था—कृष्णकांत, तुम अपने गाँव से किसी तेज विद्यार्थी को लाओ। इस विद्यालय में कोई भुसकौल विद्यार्थी न रहे, यह चेष्टा करता हूँ। तो, इस तरह मैं वहाँ पहुँच गया। पिता के जो एकाध पैसे मुझपर ख़र्च होते थे, वह भी उस दिन से बंद। वहाँ पर मैं दो साल रहा।'

'किसके घर रहे थे?'

'एक गृहस्थ थे रघुनाथ झा। उनकी एक कन्या थी।'

इसके आगे बाबा बोले, 'अब थोड़ा रुकिए।' सब रुक गए थे। लेकिन सच पूछिए तो रुकनेवाली बात ही अब क्या बची थी? सुभाष भाई की सीधी उँगली जिस घी को नहीं निकाल पाई थी, शोभा भाई ने उँगली टेढ़ी कर उसे सामने ला रखा था। प्रश्न प्रेम का था, और प्रथम प्रेमपात्र का पता पा लिया गया था।

बाबा आगे बोले, 'वहाँ से मैं बनगाँव-महिषी गया था। वहाँ धेमुड़ा नदी थी। उस नदी में यूँ बड़ी-बड़ी कबई मछली मिलती थी।'

'अब भी मिलती है।'—सुभाष भाई ने उन्हें जानकारी दी।

'हाँ। तो वहाँ लोग छोटी-छोटी चिड़ियाँ भी फँसाया करते थे। फिर, वहाँ से मैं पचगछिया चला गया। और क्या हुआ कि कविता से मुझे बहुत फ़ायदा हुआ। जहाँ भी जाता, अपना परिचय नहीं देना पड़ता था। कविकीर्त्ति के ही कारण भोपाल और लखनऊ में एक-एक लाख रुपए मिले। और यहाँ 'ललुआ' ने डेढ़ लाख...'

बिहार के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव को 'ललुआ' कहने की उनकी अदा बड़ी ही बेधक थी। यह सम्भ्रांत मैथिलों पर करारा व्यंग्य था, जो आम तौर पर उन्हें 'ललुआ' कहा करते थे। लेकिन, इतना कहकर बाबा हँस दिए तो सभी हँसने लगे। सुभाष भाई ने पूछा, 'ये डेढ़ लाख मिल तो गए न?'

'जाएँगे कहाँ? पचासों जगह अख़बारों में उनकी घोषणा छपी है। और, यहाँ अगर किसी को कह दूँ कि डेढ़ लाख में से तुम्हें दस हज़ार दे दूँगा तो...'

सबलोग हँसने लगे। बाबा भी हँसते रहे। लेकिन, इसी हँसी के बीच उन्होंने घोषणा की, 'चलो, अब बस करो। अब नहीं। अब इन्टरव्यू खतम।'

टेप रिकॉर्डर ऑफ कर दिया गया। प्रश्नावली हँटा ली गई। भूना हुआ मखाना आया। चाय आई। यह सब होता रहा। बाबा कुलानंद मिश्र से, राजमोहन झा और

मोहन भारद्वाज से यूँ ही कुछ–कुछ बातें करते रहे। इस तरह आधा घंटा बीता। बाबा ने कह दिया था कि इन्टरव्यू अब खतम करो, लेकिन बाबा भी जानते थे, और हर कोई जानता था कि यह अभी खतम नहीं हुआ है। बाबा ऊर्जा अगोड़ रहे थे और बाक़ी लेखक नेह और श्रद्धा के ज़रिये अपनी–अपनी ऊर्जाएँ बाबा के खाते में डाल रहे थे।

अबकी सुभाष भाई ने नई शुरुआत की थी, 'अभी आपने कहा कि कविता से फ़ायदा हुआ। उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश ने एक–एक लाख रुपए दिए और बिहार सरकार ने घोषित कर रखा है। लेकिन बाबा, साहित्य पर निर्भर रहने की आदत कैसे पड़ी?'

प्रश्न कायदे का था। लेकिन, बाबा हँसने लगे। उनकी हँसी ने साफ़ कर दिया कि मामला जम रहा है। बोले, 'साहित्य में दो शॉर्टकट हैं। एक तो यह कि मिनिस्टरों को ख़ूब गालियाँ दो, तो इससे बड़ा नाम होगा। लोहिया जी पटना आते थे तो मुझे ढूँढ़ते फिरते थे कि कहाँ है, क्योंकि जवाहर लाल के ख़िलाफ़ मैंने कविता लिखी थी। तो अपना प्रचार मुझे ख़ुद नहीं करना पड़ता था।'

'लेकिन बाबा, साहित्य में रमे रहने की प्रेरणा कैसे मिली?'

'साहित्य को जीवन का आधार नहीं बनाया जा सकता। यह असंभव है। साहित्य से जो यश होता है, उसका लाभ ज़रूर आपको मिल सकता है। लेकिन, वह स्वयं जीवन–यापन का आधार नहीं हो सकता। यह दूसरा शॉर्टकट है। यश मिला कि किसी ओर मारिए छलाँग। और क्या है कि कोई नक्सलाइट कविता लिखे तो यह नहीं होता कि वह फ्रंट पर जाकर लड़ने लगेगा। साहित्य पढ़कर तरुण–वर्ग में ऊर्जा आती है। जैसे, यह जो अग्निपुष्प (प्रसिद्ध मैथिली कवि) है, भारी उपद्रवी आदमी है।'

बाबा अग्निपुष्प को 'उपद्रवी आदमी' बताते हैं और ख़ूब हँसते हैं। फिर कहते हैं, 'आजकल थोड़ा उपद्रवी होना पड़ता है। निरामिष होने पर कोई नहीं पूछता। डण्डा लगाइए दस लोगों को, सब ठीक रहेगा। अब गोविन्द बाबू (पुरस्कृत प्रख्यात मैथिली लेखक पण्डित गोविन्द झा) को ही लीजिए। उन्होंने कह दिया कि उग्रवादी प्रभाव के कारण उन्हें पुरस्कार मिला। यह कहने का क्या मतलब है? भाई, असली उग्रवाद का तो आपको पता नहीं है। उग्रवाद सिर्फ़ इलायची की सुगन्ध थोड़े ही है? उग्रवाद तो जब अमल में आता है तो बहुत विकट हो जाता है।'

मैं जैसा कि समझ पाया था, बाबा का सोच यह था कि यदि गोविन्द बाबू को उग्रवादी प्रभाव के कारण ही यह पुरस्कार मिला, तो उनका फर्ज बनता था कि

नौजवानों के सतत अभियान में हिस्सा लेते और साहित्य अकादेमी को स्थायी रूप से महन्तों के चंगुल से मुक्त कराने में अपनी भूमिका निभाते। जबकि हुआ यह था कि यह स्टेटमेन्ट देकर उन्होंने दोनों ही ओर से अपनी निरपेक्षता घोषित कर दी थी।

शोभा भाई ने सिलसिले को आगे बढ़ाया, 'कभी ऐसा भी हुआ कि किसी बात पर रुष्ट होकर घर से भाग गए?'

'मेरे मामा कलकत्ता में रहते थे। मैं काशी में था। एक बार वह काशी आए तो बोले—कलकत्ता चलो। पैसे-दो पैसे की आमदनी हो जाएगी। बाप को भी भेज दिया करना। चला गया। वहाँ दो वर्ष रहा।'

सुभाष भाई ने पूछा, 'कौन-सी नौकरी की वहाँ?'

'पहली नौकरी मिली सहारनपुर में। अमृत बाज़ार पत्रिका में पालि-प्राकृत जाननेवालों के लिए विज्ञापन निकला था। मैंने पालि के लिए दरख्वास्त दी। मुझे बुला लिया गया। जिनके साथ मुझे काम करना था, वह एक बंगाली बाबू थे, जो जैनशास्त्र पर पी-एच.डी. की तैयारी कर रहे थे। पति-पत्नी थे, और दोनों में भयंकर झगड़ा चलता था। तो, उनकी पत्नी को लगा कि पति ने खामख्वाह एक पण्डित को बुला लिया है, इससे ख़र्च बढ़ जाएगा—ओ माँ, की पागोल! तुमि ऐखाने थाकबे ना!'

'फिर क्या हुआ?'

'सहारनपुर में दो-तीन पाठशालाएँ थीं। उनमें पढ़ाया।'

'यायावरी कब और कैसे शुरू हुई?'

'उन्हीं दिनों राहुल सांकृत्यायन श्रीलंका गए, रूस गए। तो, मैंने महाबोधि सोसाइटी, सारनाथवालों को लिखा कि मैं भी श्रीलंका जाना चाहता हूँ। उन्होंने मुझे सारनाथ बुलाकर कहा—आप वहाँ जाएँगे तो आपकी गारंटी कौन लेगा? आप बीमार पड़ेंगे, आप पर ख़र्च आएगा। आदि-आदि। मतलब यह कि आप बौद्ध भिक्षु बन जाइए। मैंने सोचा कि नहीं, यह समझौता तो नहीं होगा। पंजाबवाले स्वामी जी ने मुझे तीन हज़ार रुपए दिए थे। यह 36 इस्वी की बात है। वहाँ से मैं मद्रास चला गया। ऐसा हुआ कि वहाँ किसी ने मेरे रुपए निकाल लिए। अब क्या किया जाए? लेकिन तय किया कि लौटूँगा तो नहीं ही। वहाँ से सेतुबन्ध रामेश्वर चला गया। वहीं से जहाज जाता था 32 किलोमीटर, पानी में। वहाँ देखा, एक आदमी मठ में धान तौल रहा था—रामहि जी राम, रामहि जी दू। मेरा तो माथा ठनका—भाई, ज़रूर यह उत्तर भारत का है!'

यह बताने की उनकी अदा पर सबको हँसी लग गई। बाबा भी हँसने लगे।

'फिर?'

'तो, उसने मुझसे पूछा—गुरुभाई, कहाँ से आए हैं आप? मैंने कहा—हम लखनऊ-कानपुर तरफ़ के हैं। फिर तो क्या कहना! कहने लगा—हम भी कानपुर के हैं। संन्यासी बन गए हैं। हमको आप कविता बनाना सिखा दीजिए-दोहा, चौपाई वग़ैरह। हम श्री लंका जाएँगे, वहाँ हमारा मठ है, वहाँ आपको भी लेते जाएँगे। मैं उसी के साथ श्रीलंका चला गया और वहाँ बत्तीस महीने रहा। लौटकर आया तो स्वामी सहजानंद ने पकड़ लिया। कहने लगे—राहुल तुमको बर्बाद कर देगा। वह पुरानी ईंटों-पत्थरों की खोज कर रहा है, तुम ज़िंदा मुरदा को खोजो। इस तरह मेरा राजनीति में प्रवेश हुआ। उनके साथ काम किया। फिर, हज़ारीबाग और भागलपुर जेल में एक-एक साल रहा। उन दिनों अख़बार में छपता था कि श्रीलंका का एक संन्यासी जेल में है, लोग उसे परेशान कर रहे हैं...'

इस बात पर फिर एक बार हँसी का दौर चला।

सुभाष भाई आगे बढ़े, 'तो, आगे लेखन से आपकी ज़रूरतें पूरी होती रहीं?'

'नहीं। लेकिन, हिंदी में कोई जासूसी उपन्यास से लेकर राष्ट्रपति का अभिनंदन-पत्र तक लिखने को तैयार रहे, और नाम बदल-बदलकर भी लिखे तो फिर कोई चिन्ता नहीं।'

'आपने भी तो कई नाम रखे—वैदेह, यात्री, नागार्जुन। क्या इसी वजह से?'

'यात्री तो मैथिली में सीमित है। और, नागार्जुन हिंदी में व्यापक। और, जो चीज़ आप पूछ रहे हैं उस अर्थ में मैंने नाम बदला भी नहीं। बस, ज़रूरत पड़ गई। दिल्ली में मेरे एक बेटे ने यात्री प्रकाशन खोल रखा है। लोग समझते हैं कि मेरा ही है। लेकिन, श्रीकांत का अपना अलग एकाउन्ट है। वहाँ से मुझे अपनी किताबों की भी रॉयल्टी नहीं मिलती। दो-चार-दस दिन वहाँ ठहरता हूँ तो श्रीकांत समझता है वही हो गया।'

'इधर क्या लिख रहे हैं?'

'अब कविताएँ नहीं लिखता। बहुत हो गया। 1964 में आख़िरी उपन्यास लिखा—उग्रतारा। अब अगर लिखने का मन करता भी है तो निश्चिन्त वातावरण नहीं मिलता। यानी, किसी को दो घंटे के लिए दो सौ रुपए पर रखा और लिखाता गया। अभी मुझमें दो सौ रुपए देने की सामर्थ्य है। तो, तीस-पैंतीस दिन में एक उपन्यास हो जाएगा। मगर हाँ, कोई डिस्टरबेन्स न हो, कहीं आना-जाना न पड़े, परिवार के लोग ट्रेंड हों। लोगों को मना कर दें कि भाई, अभी मुलाक़ात नहीं होगी, कल आइए या परसों।'

सुभाष भाई लगातार आगे बढ़ रहे थे। उन्होंने प्रश्नावली में से अपना अगला

सवाल रखा, 'बाबा, साहित्य और राजनीति के रिश्ते के बारे में आप क्या सोचते हैं?'

'देखिए, प्रेमचन्द ने कहा था कि साहित्य गाइडिंग फोर्स होता है, नेतृत्व देता है। लेकिन, हालात क्या हैं? राजनीतिक ताक़त जिसके हाथ में है, वह साहित्य को बंधुआ गुलाम समझता है। तो, देखना होगा कि फलां पुरस्कार जो मिला, वह किस वजह से मिला! जिसे गाली देता हूँ, वही पुरस्कार देता है। (बाबा हँसते हैं) धर्मवीर भारती बंबई में रहते हैं। कई पुरस्कारों का संचालन करते हैं। तो, उन्होंने कहा कि गुरु, आप बंबई क्यों नहीं आते हैं, आपकी प्रतीक्षा हो रही है। (बाबा फिर हँसते हैं) कि वहाँ कलकत्ते में क्या रक्खा है! भाई, मैं तो सब समझता हूँ। (बाबा की हँसी फिर फूटती है) दरबारी, उप-दरबारी, उप उप-दरबारी... (सभी हँसने लगते हैं) भाई देखो, पुरस्कार की जो नीति है, वह पूरी तरह से कुंठित हो चुकी है। पुरस्कार देनेवालों को देखना चाहिए कि दैनिक जीवन में वह कैसे रहता है, उसे मकान है या नहीं, बैठकख़ाना है या नहीं। ऐसा नहीं कि गोबर के चोत की तरह ऊपर से पुरस्कार गिरा दिया-धप्प!'

'आपने तो कई भाषाओं में लिखा। इन विभिन्न भाषाओं में लिखने से संबंधित कोई विलक्षण अनुभव?'

'मुझे मैथिली लिखने में ज़्यादा आनंद आता है।'

'बांग्ला में आपने क्या-क्या लिखा?'

'पचास के क़रीब कविताएँ लिखी होंगी। मेरा ख़याल है—कविता लिखते समय उपन्यास नहीं लिखना चाहिए। और, उपन्यास अगर लिखिए तो कविता से दूर रहिए। देखिए, साहित्यकार अगर हिम्मत से काम ले तो कभी भूखों नहीं मर सकता। यह ग़लत कहा जाता है कि साहित्य नहीं बिकता।'

शोभा भाई ने पूछा, 'बांग्ला में लिखने का क्या कारण रहा?'

'कारण क्या? बांग्ला मुझे प्रिय है, इसलिए।'

'भारत में कौन-सी जगह आपको सबसे अच्छी लगती है?'—फिर सुभाष भाई।

'कलकत्ता।'

'लेकिन कलकत्ता को पसंद करने का कोई तो ख़ास कारण होगा!'—यह भाइसाहेब थे।

'कलकत्ता मुझे इसलिए पसंद है, क्योंकि बंगाल के बुद्धिजीवी बहुत मेहनती हैं। और, कम ख़र्च में अल्प-संतोषी। बड़े-बड़े विद्वान चप्पल पहनकर घूमते आपको मिल जाएँगे। इधर, यहाँ का हाल क्या कि प्यारे भाइयों, एक थीसिस क्या लिख

ली कि पढ़ना–लिखना सब छोड़ा। बंगाल में आप देखेंगे कि उधर नोबेल प्राइज की घोषणा हुई, इधर दो महीने के अंदर उसका अनुवाद छपकर तैयार! हिंदी–क्षेत्र में प्रसार तो अधिक है, लेकिन काम उधर ही ज़्यादा होता है।'

भाइसाहेब ने अगला प्रश्न किया, 'आपको तो बहुत सारे पुरस्कार मिले। दो ही अब बाक़ी दिखते हैं—ज्ञानपीठ और नोबेल। तो, ऐसा नहीं लगता कि...'

बाबा ने बीच में ही उनको टोक दिया, देखिए, पुरस्कार के प्रति मैं निरपेक्ष हूँ। निरपेक्ष मतलब क्या? ज्ञानपीठ को ही लीजिए। इसके जो निर्णायक–गण हैं, वे श्रीमन्त वर्ग के, कर्ण सिंह क़िस्म के लोग हैं, जिस वर्ग को मैं गालियाँ देता रहा हूँ। तो, वह मुझे मिले तो आठवाँ आश्चर्य होगा।'—बाबा हँसते हैं।

भाइसाहेब ने उन्हें फिर घेरने की कोशिश की, 'लेकिन, आप तो कह रहे थे कि गालियाँ दो तो पुरस्कार मिलता है!'

'गलियाना तो ठीक। लेकिन, भौंकते–भौंकते मर जाएँ, ऐसा तो नहीं होना चाहिए।'

बाबा हँसते रहते हैं।

प्रमोद जी ने अलग तरीक़े से प्रयास किया, 'लेकिन बाबा, नोबेल प्राइज में बहुत रुपए मिलते हैं!'

'वह तो है। लेकिन कहा न, जब माइंड पुरस्कार–ओरिएंटेड हो जाएगा तो साहित्य का मूल बिंदु छूट जाएगा।'

पुरस्कारों के बारे में चर्चा इस तरह पूरी हुई। सुभाष भाई अब अपने अगले प्रश्न की ओर बढ़े, 'उस दिन आपको स्टॉल से विद्यापति गीत–संग्रह ख़रीदते देखा। उससे लगा कि क्लासिकल लिटरेचर में अब भी आपकी दिलचस्पी बहुत है।'

'हाँ, दिलचस्पी तो है। वैसे, वह विद्यापति गीत–संग्रह मैंने अपनी घरवाली श्रीमती नागार्जुन के लिए ख़रीदा है। अब ऐसा भी नहीं है कि मैं नहीं पढ़ूँगा।'

'इन दिनों किस तरह का साहित्य ज़्यादा पढ़ने का मन होता है—क्लासिकल या समकालीन?'

'क्लासिकल भी, और बिल्कुल नए लड़के जो लिख रहे हैं, वह भी।'

'आजकल के साहित्य में भी क्लासिकल वाला आनंद मिलता है?'

'मैं तो धोबी–घाट पर बैठता हूँ तो उसमें ज़्यादा आनंद आता है। आम जनता के जीवन को आब्जर्व करने से बड़ा आनंद तो कुछ भी नहीं।'

सुभाष भाई की प्रश्नावली का अगला प्रश्न था, 'राजनीतिक कविताएँ लिखने की वजह से कभी प्रताड़ित भी किए गए?'

‘मेरी कविताएँ कई बार जब्त हुईं। देखिए, राजनीतिक कविता ऐसी होनी चाहिए, जिससे ख़ुद को संतुष्टि मिले, हमारे जो लोग हैं उनको संतुष्टि मिले। पार्टीवालों की तरह यह नहीं होना चाहिए कि फ़ायदा उठा लिया और छोड़ दिया, जैसे लोग गन्ना खाकर सिट्ठी फेंक देते हैं। राजनीतिक कविताएँ लिखने वालों को समझदार भी होना चाहिए। आदमी समझदार हो तो इससे निराशा नहीं होती।’

प्रमोद जी कविता पर बाबा से और सुनना चाहते थे। पूछा, ‘कविता में शब्दों का चयन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। इसपर कुछ कहेंगे?’

‘देखिए, कविता के लिए अगर आप शब्दों का चयन करते हैं तो उसे समकालिकता और तात्कालिकता से थोड़ा दूर रखना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि आपका मन यदि प्रसन्न है तो ख़ुद-ब-ख़ुद अच्छे शब्द निकलेंगे, मन में अगर खीझ है तो वैसे ही शब्द आएँगे। ख़ासकर कविता में बहुत कोमल दिमाग़ चाहिए ताकि वह ग्रास्प करे। क्रोधित व्यक्ति न कविता लिखेगा, न छोड़ेगा।’

प्रमोद जी ने फिर पूछा, ‘आज जो मैथिली कविता लिखी जा रही है, उसे आप कहाँ रखते हैं?’

‘मैथिली कविता समय के साथ चल रही है। यहाँ बढ़िया काम हो रहा है। मेरे काव्य-गुरु सीताराम झा ने ‘अम्बचरित’ लिखा। वह भारी-भरकम रचना है। लेकिन आज के कवि के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। आज की कविता बहुत आगे आ चुकी है। यह आज की किसी भी भारतीय भाषा की कविता की बराबरी में है।’

‘अन्य भारतीय भाषाओं में जो काम आज हो रहा है, कुछ उसके बारे में भी बताइए।’

‘मुझे पाँच-छह भाषाओं की जानकारी है। मराठी, गुजराती, नेपाली में आज बेहतर काम हो रहा है। असली समस्या है अनुवाद की। इसे मजबूत बनाना चाहिए। अब, गोविन्द बाबू ने अनुवाद किया। वे विद्वान आदमी हैं, लेकिन यह तो समझना होगा न कि नेपाली कविता का जो सही अनुवाद होगा, वह नेपाल के जनजीवन के बारे में पर्याप्त जानकारी के बाद ही। महज शाब्दिक अनुवाद कर देने से होगा? नेपाली का एक पुराना कोश है, उन्होंने उसी से लेकर दे दिया।’

इस बीच, भाइसाहेब के जेहन में एक सवाल कौंधता है, ‘परसों से ही यह प्रश्न मेरे मन में है कि आपसे पुछूँगा। कुछ साल पहले आपने कहा था कि मैथिली मर जाएगी। लेकिन, इस संगोष्ठी में बोलते हुए आपने कहा कि नहीं मरेगी। ये दो तरह की बातें...’

'भाषा एक दिन में न बनती है, न मरती है। इसे कई शताब्दियों का समय चाहिए। मैथिली की यह समिधा रही है कि पुराने विद्वानों की अनुकूल दृष्टि इस पर रही। तभी तो उस जमाने में 'वर्ण-रत्नाकर' जैसे ग्रन्थ लिखे गए। ऐसी भाषा को तो मरने के लिए भी पाँच सौ-हज़ार वर्ष चाहिए।'

सुभाष भाई आगे बढ़े, 'आप तो बाबा, सदा के नास्तिक रहे हैं। अब इस उम्र में आकर आस्तिकता की अनुभूति तो नहीं होती?'

'नहीं। कभी नहीं। मगर, मेरे कुछ ऐसे भी मित्र हैं जो बाहर की दुनिया में घोर प्रगतिशील हैं, लेकिन घर में मैली जनेऊ पहनते हैं, देह पर गंगाजल छिड़कते हैं। एक दिन मैंने अपनी श्रीमती से कहा—तुम ज़्यादा घूमोगी-फिरोगी तो लोग डायन कहेंगे। तो, उसने बीस गालियाँ दीं—किस कोढ़िया ने कहा है?'

बाबा हँसते हैं। सभी हँस पड़ते हैं।

'कभी ऐसा नहीं लगता कि कुछ लिखना छूट गया?'

'मुझे तो लगता है कि लोग जो लिख रहे हैं, वह मैं ही लिख रहा हूँ, अच्छा-बुरा सब।'

'कभी आत्मकथा लिखने की इच्छा नहीं हुई?'

'मेरी सारी कविताएँ मिला दीजिए, आत्मकथा हो जाएगी।'

'कविताएँ ही? उपन्यास नहीं?'

'उसमें अलग मूड है। विधाएँ ही अलग-अलग हैं। बच्चन जी ने आत्मकथा लिखी—क्या भूलूँ क्या याद करूँ। यशपाल की पत्नी प्रकाशवती मेरे पास आईं और चप्पल निकालकर बोलीं—आज मैं चप्पल इस्तेमाल करूँगी। मैंने पूछा—किसपर कृपा करनेवाली हैं? तो बोलीं—बच्चन ने अनाप-शनाप लिखकर यशपाल को अपमानित किया है। मैं बच्चन के यहाँ जाती हूँ, उसे इसी चप्पल से मारूँगी। तो, मैंने कहा—आपका मनोरथ पूरा नहीं होगा। बच्चन सरकारी ढंग से प्रोटेक्टेड हैं। गेट पर ही दो पठान सिपाही पकड़ लेंगे आपको। अगले दिन अख़बार में छपेगा—एक पगली आई थी। देखिए, यशपाल अभी जीवित हैं, लेखनी का जबाव लेखनी से दें।'

'बाबा, आख़िरी सवाल। इस उम्र में लोग चाहते हैं कि जल्दी मर जाएँ। आपको भी ऐसा लगता है!'

'नहीं।'

'तो, क्या मृत्यु से आपको डर लगता है?'

'बिल्कुल नहीं। जैसे, लोग कहते हैं न—वो यमराज आया! मुझसे तो यमराज दस क़दम दूर ही रहता है!'

बाबा हँसने लगे। हर कोई हँसने लगा।

अविनाश इसी घड़ी की प्रतीक्षा में थे। दरअसल हम लोग पहली पंक्ति में नहीं थे। दूसरी पंक्ति में भी नहीं। हम तो बस अगल-बगल आड़-मेड़ पर टिककर सारी बातें सुन रहे थे। अविनाश के पास एक प्रश्न था। उस प्रश्न को एक लाइन में समेटने के लिए उन्होंने अच्छी मेहनत की थी। यह सबसे अंत में पूछा जानेवाला था। जैसे ही सुभाष भाई ने कहा था—बाबा, आख़िरी सवाल—अविनाश अपनी जगह से उठ गए थे और आगे बढ़ गए थे। लेकिन उस प्रश्न के बाद एक और प्रश्न उभर आया था, और माहौल हँसी-हँसी हो गया था। अविनाश थोड़ा अप्रतिभ हो रहे थे। मतलब कि अब भी माहौल बचा है क्या? माहौल बचा था। मैंने उन्हें आगे की ओर ठेला।

अविनाश का प्रश्न था, 'बाबा बाबा, हमारी युवा पीढ़ी के लिए आपका संदेश?'

मुझे बिल्कुल ठीक-ठीक याद है। अविनाश ने इस 'युवा पीढ़ी' और 'संदेश' शब्द का ही प्रयोग किया था।

बाबा मौज में थे। इसी मौज में उन्होंने अपना संदेश दिया था, 'पीढ़ा जब घिसता है, तो पीढ़ी बनती है!'

बस, एक वाक्य बाबा बोले थे। उस वक़्त उनके बोलने के अंदाज़ को यादकर अब भी होंठ मुस्कुरा पड़ते हैं। सोचिए, पीढ़ा अगर घिसेगा नहीं, उसके झोल, उसके अंतर्विरोध, उसकी अव्याप्तियाँ बेपर्द नहीं की जाएँगी, सामने नहीं लाई जाएँगी, तो नई पीढ़ी को स्पेस कहाँ से मिलेगा?

मज़े की बात यह थी कि यह बात पीढ़ा ख़ुद बोल रहा था! पीढ़ी के लिए यह 'पीढ़ा' का संदेश था।

●●●